स्वनिर्मित जीवन

खंड – 2

सृजन के भीतर समाज

स्वनिर्मित जीवन

खंड – 2

सृजन के भीतर समाज

डॉ. उमेश मण्डल

हिंदी अनुवाद

पल्लवी मण्डल

पल्लवी प्रकाशन
बेरमा/निर्मली

SWANIRMIT JEEVAN - 2

Society Within Creation

A Hindi Translation of Dr Umesh Mandal's Maithili Reflections on Life, Literature and Society: Translated by Pallavi Mandal

Swanirmit Jeevan – 2 continues the reflective journey of the first volume through fifty pieces centred on literature, creativity and public life. Taking selected statements from Jagdish Prasad Mandal's Payasvinee as points of departure, the book explores authorial identity, the relationship between lived experience and writing, marginal voices, creative independence, readers, criticism, literary institutions, recognition, digital media, linguistic confidence, creative discipline and the value of time.

Jagdish Prasad Mandal's self-made life, rooted in farming, social struggle, sustained engagement with society and a literary practice that began relatively late yet developed with remarkable continuity, provides an important living context for these reflections. The book, however, is neither a biography nor an exercise in praise. Its central concern is to examine how society enters the creative process and how literary creation, in turn, can question, influence and reshape society.

At the heart of the volume is an understanding of literature not merely as individual expression, but as a shared ethical and social practice. Writers, readers, critics, editors, institutions and the wider literary community all participate in this process through reading, dialogue, disagreement, reflection and change. This Hindi translation by Pallavi Mandal seeks to carry the ideas and concerns of the original Maithili text to a wider readership while preserving its reflective character, social commitment and dialogic spirit.

Published by: Pallavi Prakashan
Tulsi Bhawan, Nehru Marg, Ward no. 06, Nirmali, District: Supaul, Bihar: 847452

First Edition: 2026
ISBN: 978-81-17033-00-5
Price: 299/-
Copyright: © Author (Dr. Umesh Mandal)

Printed by: Manav Art (Pallavi Prakashan)
Typesetting: Dr. Umesh Mandal, umeshberma@gmail.com
Cover Design: Mrs. Poonam Mandal, Nirmali, Supaul, Bihar- 847452

Website: http://pallavipublication.blogspot.com
Email: pallavi.publication.nirmali@gmail.com
Mobile: +91 99316 54742, +91 62006 35563
Font Source: Google Fonts

All rights reserved. No part of this book may be reproduced, distributed, transmitted, adapted, paraphrased, stored in a retrieval system, or processed in any form or by any means, including electronic, mechanical, digital, or artificial intelligence systems, without the prior written permission of the copyright holder or the publisher.

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

दो शब्द

आरम्भिक लेख

★ दोनों खण्डों का वैचारिक सेतु : जीवन से सृजन तक

★ प्रवेश : सृजन के भीतर समाज

विचार-बिंदु

1. हम किसके रचनाकार हैं?
2. संस्कार का प्राण लोक-कण्ठ में है
3. धरती से जन्मा साहित्य दुनिया की सम्पत्ति बनता है
4. रक्त-सम्बन्ध नहीं, पाठ-सम्बन्ध देखें
5. आज के सामाजिक परिवेश में कैसा साहित्य चाहिए?
6. दर्पण साफ रहेगा, तभी समाज दिखाई देता रहेगा
7. रचनाकार की समदृष्टि : प्रिय-अप्रिय से ऊपर
8. कथा नहीं, जीवन ने उन्हें पकड़ रखा है
9. मन व्याकुल होता है, तब रचना निष्पक्ष अभिव्यक्ति की खोज में रहती है
10. शब्द जीवन का नक्शा है, केवल भाषा का रूप नहीं
11. केन्द्र की कुर्सी और हाशिये की आवाज
12. सत्ता नहीं, दबा-कुचला समाज मेरा आधार

13. हा शिये पर नहीं, निष्पक्ष धारा को गति देने वाला
14. साहित्य को भक्त नहीं, निर्भीक पाठक चाहिए
15. लोभ से मुक्त जीवन ही कलम को स्वतंत्र रखता है
16. सम्मानपत्र से साहित्य का दायित्व पूरा नहीं होता
17. रचना का मूल्य प्रचार में नहीं, जीवन-दिशा में है
18. वर्तमान का कर्म ही भविष्य का साहित्य बनाता है
19. जो माँगता नहीं, देता है, उसका हिसाब साहित्य रखता है
20. संघर्ष जब साहित्य बनता है, समाज प्रेम का मार्ग पाता है
21. लोग पढ़ते हैं, लेकिन बोलते क्यों नहीं?
22. लोक तक न पहुँचा साहित्य सीमित रह जाता है
23. मैथिली साहित्य का लोकतंत्रीकरण अभी प्रतीक्षा में है
24. मंच की मनमानी साहित्यिक अराजकता बनती है
25. सत्ता की निकटता जब कसौटी बनती है
26. मोबाइल युग में साहित्य की परीक्षा
27. प्रतिष्ठा दी नहीं जाती, कर्म से बनती है
28. स्वीकृति घोषणा नहीं, लोकस्मृति में उतरने की प्रक्रिया है
29. अवसर बाहर से नहीं आता, दृष्टि उसे पहचानती है
30. पुरस्कार अन्तिम लक्ष्य नहीं, सृजन की यात्रा अनवरत है
31. भाषा कमजोर नहीं, भरोसा कमजोर है
32. सत्य हाशिये का नहीं, उसकी स्वीकृति विलम्बित है
33. अतीत के गौरव में अटका साहित्य वर्तमान की धड़कन नहीं सुनता
34. लोक की भाषा में लिखा साहित्य लोक को प्रेम के सूत्र में जोड़ता है
35. मिथिला सबकी, मैथिली सबकी, सेवा भी सबकी

36. पुस्तक से फेसबुक तक विचार की यात्रा
37. उँगली के इशारे के युग में सुस्त समाज नहीं चल सकता
38. कागज पर लिखे मूल्यों की परीक्षा साहित्यकार के व्यवहार में होती है
39. गुट साहित्य को सीमित करता है
40. विचारों का विनिमय संवाद बढ़ाता है
41. रचना फुरसत के समय का खेल नहीं, जीवन की नियमित वृत्ति है
42. समाज से कटकर साहित्य की थाह नहीं मिलती
43. एक आँख समाज पर, दूसरी कागज-कलम पर
44. समाज से जुड़ा साहित्य ही आन्दोलन बनता है
45. साहित्य का मूल स्वर प्रेम और भाईचारा
46. जीवन के प्रति प्रेम साहित्य है, जीवन की लड़ाई उसका सृजन
47. विचारों के संघर्ष में साहित्य सबसे प्रभावशाली अस्त्र
48. रचना की दशा-दिशा अच्छी रहेगी, तो साहित्य की धारा बनेगी ही
49. मूल्यांकन समय करेगा, साहित्यकार सृजन करता रहेगा
50. समाज की साँस जब तक चलेगी, साहित्य की धारा तब तक बहेगी

अन्तिम सामग्री

★ समापन : सृजन से जीवन तक
★ स्रोत और पाठ-संदर्भ

समर्पण

श्री जगदीश प्रसाद मण्डलजी के
उस स्वनिर्मित जीवन और अविराम सृजन को,
जिसमें मिथिला की मिट्टी, श्रम और संघर्ष के साथ
हाशिये का मनुष्य अपनी भाषा, गरिमा
और आवाज पाता है।

- पल्लवी

प्राक्कथन

मनुष्य जन्म के साथ जीवन तो पाता है, किन्तु उसके भावी रूप, अर्थ और दिशा से अनभिज्ञ रहता है। परिवार, भाषा, भूगोल और सामाजिक सम्बन्ध उसके जीवन का प्रारम्भिक आधार तैयार करते हैं; अनुभव, प्रश्न, श्रम और निर्णय के बीच वह धीरे-धीरे अपने जीवन को आकार देता है और उसकी दिशा निर्धारित करता है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति की चेतना और समाज की सहभागिता, दोनों महत्त्वपूर्ण होती हैं। डॉ. उमेश मण्डल की द्विखण्डीय कृति 'स्वनिर्मित जीवन' व्यक्ति और समाज के इसी पारस्परिक सम्बन्ध की वैचारिक पड़ताल करती है।

'स्वनिर्मित' शब्द सामान्यतः व्यक्तिगत उपलब्धि और आत्मनिर्भरता का बोध कराता है। प्रस्तुत कृति में इसका अर्थ अधिक व्यापक है। जाति, लिंग, आर्थिक स्थिति, शिक्षा और अवसर की असमानता जीवन की वास्तविक परिस्थितियाँ हैं; तथापि मनुष्य केवल इन परिस्थितियों का निष्क्रिय परिणाम नहीं है। वह अपनी स्थिति को समझ सकता है, विरासत में मिली मान्यताओं को परख सकता है और अपनी सामर्थ्य तथा सामूहिक सहयोग के बल पर परिवर्तन में सहभागी हो सकता है। स्वनिर्माण यहाँ सामाजिक सम्बन्धों के बीच अपने विवेक और उत्तरदायित्व को विकसित करने की प्रक्रिया है।

इस धारणा का एक आवश्यक नैतिक पक्ष भी है। शोषित मनुष्य को उसके शोषण के लिए दोषी ठहराना अथवा प्रत्येक अभाव को व्यक्तिगत प्रयत्न की कमी का परिणाम मान लेना स्वनिर्माण के अर्थ को विकृत करेगा। पहला खण्ड इस सरलीकरण से स्पष्ट दूरी रखते हुए परिस्थितियों में निहित अन्याय को पहचानने, जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं से जुड़े प्रश्न उठाने और परिवर्तन की प्रक्रिया में प्रभावित लोगों की सहभागिता सुनिश्चित करने पर बल देता है। व्यक्तिगत आत्मबल और सामाजिक न्याय इस दृष्टि में परस्पर सम्बद्ध हैं।

दोनों खण्डों में पचास-पचास विचार-बिन्दु हैं। पहला खण्ड 'समाज के भीतर मनुष्य' प्रश्नधर्मी चेतना, आत्मबल, जीवन के द्वन्द्व और आत्मपरीक्षण से आरम्भ होकर संस्कृति, लोकस्मृति, स्त्री-अनुभव, परम्परा, आधुनिकता, भूख, जाति और वर्चस्व के प्रश्नों तक आगे बढ़ता है। समस्याओं की पहचान और उनके सामूहिक समाधान पर विचार करते हुए यह यात्रा गाँव, जमीन, पानी, मातृभूमि और भाषिक आत्मविश्वास तक पहुँचती है। इसका मूल प्रश्न है कि समाज हमारे भीतर किस प्रकार बसता है और हम अपने व्यवहार से उसके निर्माण में किस प्रकार सहभागी होते हैं।

इस खण्ड की विशेषता सामाजिक आलोचना को आत्मपरीक्षण से जोड़ना है। अन्याय को यदि केवल सत्ता, संस्था अथवा दूसरे व्यक्ति के आचरण में देखा जाए, तो प्रश्न करने वाले की अपनी भूमिका अनदेखी रह सकती है। कृति पाठक को इस एकपक्षीय दृष्टि से बाहर लाती है। समानता और मानवीय गरिमा के जिन मूल्यों को हम सार्वजनिक रूप से स्वीकार करते हैं, वे हमारे पारिवारिक सम्बन्धों, जातिगत व्यवहार, श्रम के प्रति दृष्टिकोण और असहमत व्यक्ति के प्रति आचरण में किस हद तक दिखाई देते हैं? यहीं सामाजिक विचार दैनिक जीवन की कसौटी बनता है।

सांस्कृतिक विवेचन इस आत्मपरीक्षण को ऐतिहासिक और सामूहिक आधार प्रदान करता है। संस्कृति केवल पर्व-त्योहार अथवा औपचारिक संस्कारों तक सीमित नहीं है। खेत का श्रम, किसान का अनुभव, घर-परिवार में विकसित ज्ञान, बोली-बानी, गीत और लोकस्मृति भी उसका निर्माण करते हैं। इस दृष्टि से लोकजीवन ज्ञान के स्रोत के रूप में प्रतिष्ठित होता है। सांस्कृतिक मूल्यांकन में यह देखना आवश्यक हो जाता है कि संस्कृति की प्रचलित परिभाषा में किनके अनुभव समाहित हैं और किनका जीवन उपेक्षित रह गया है।

स्त्री-अनुभव की मौखिक परम्परा, विशेषतः संस्कार-गीतों की चर्चा, इस प्रसंग में विशेष महत्त्व रखती है। औपचारिक शिक्षा से वंचित अथवा उस तक सीमित पहुँच रखने वाली स्त्रियों के अनुभव, पीड़ा, हास्य, सम्बन्ध-बोध और लोकबुद्धि गीतों के माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रहे हैं। किन्तु पुस्तक लोकगीतों को घटनाओं का प्रत्यक्ष और क्रमबद्ध अभिलेख नहीं मानती। वे सामाजिक इतिहास और सामूहिक स्मृति के स्रोत हैं, जिनके अध्ययन में अवसर-

विशेष, क्षेत्र, समुदाय, स्वर और पाठान्तर का ध्यान रखना आवश्यक है। इसी प्रकार प्रत्येक गीत को प्रतिरोध की घोषणा मान लेना भी उचित नहीं; स्वीकृति, तनाव और असहमति के अलग-अलग स्वर उनके सामाजिक प्रसंग में खुलते हैं।

परम्परा और आधुनिकता के विवेचन में भी इसी प्रकार की सावधानी दिखाई देती है। विरासत जीवनदायी अनुभवों को सँजोती है, किन्तु उसके भीतर रूढ़ि और वर्चस्व के संस्कार भी रह सकते हैं। जीवनोपयोगी परम्पराओं का संरक्षण और अमानवीय मान्यताओं का पुनर्परीक्षण एक साथ आवश्यक है। इसी प्रकार केवल नए साधनों के उपयोग से चेतना आधुनिक नहीं हो जाती। तकनीक का सामाजिक अर्थ उसकी उपलब्धता, प्रयोग की दिशा और लोकजीवन पर पड़ने वाले प्रभाव से निर्धारित होता है; वैचारिक आधुनिकता प्रश्न, प्रमाण, समानता और मानवीय गरिमा की स्वीकृति से जुड़ती है।

परम्परा और आधुनिकता के इस विवेक की सामाजिक परीक्षा भूख, जाति और क्षेत्रीय भेद के प्रश्नों पर होती है। अभाव के कारणों की उपेक्षा कर केवल व्यक्ति के आचरण पर निर्णय देने से न्याय अधूरा रह जाता है। जातिगत अपमान और आर्थिक शोषण के परस्पर सम्बन्ध को समझना भी आवश्यक है। समाधान के लिए समस्या की जड़ पहचानना, प्रभावित लोगों के अनुभव सुनना और सामूहिक निर्णय की प्रक्रिया विकसित करना आवश्यक है। यहाँ स्वनिर्माण का सामाजिक अर्थ अधिक स्पष्ट होता है।

पहले खण्ड का अन्त मैथिली के प्रति आत्मविश्वास के आह्वान के साथ होता है। यहीं से दूसरे खण्ड 'सृजन के भीतर समाज' का आरम्भिक प्रश्न उठता है: 'हम किसके रचनाकार हैं?' अपनी भाषा और सामाजिक सामर्थ्य की पहचान के बाद यह प्रश्न उठता है कि रचनाकार उनके माध्यम से किन जीवन-अनुभवों को अभिव्यक्ति देगा। लेखक किनके अनुभवों को देखता है, किनके श्रम और संघर्ष को साहित्यिक गरिमा प्रदान करता है और किसका जीवन उसकी दृष्टि से बाहर रह जाता है?

दूसरा खण्ड इस प्रश्न को रचनाकार की सामाजिक दृष्टि और रचना-विधान से जोड़ता है। लेखक अकेला लिख सकता है, किन्तु उसकी भाषा, स्मृति और अनुभव सामाजिक सम्बन्धों से विकसित होते हैं। उसके विषय-चयन, पात्र-गठन, शब्द-प्रयोग और मौन में भी समाज उपस्थित रहता है। साहित्य की

पक्षधरता इसलिए केवल घोषित मत में नहीं, बल्कि इस बात में भी प्रकट होती है कि रचना मनुष्य को कितनी गहराई से समझती है और पाठक को विचार का कितना अवसर देती है।

इस सन्दर्भ में सामाजिक उत्तरदायित्व और कलात्मक अनुशासन का सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण है। लोकहितकारी उद्देश्य अपने-आप प्रभावी साहित्य का प्रमाण नहीं बनता। अनुभव को उपयुक्त भाषा, संरचना, संवेदना और शिल्प की आवश्यकता होती है। कृति में रचना की 'दशा' और 'दिशा' के विवेचन के माध्यम से इस सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है। कमजोर रचना-विधान विचार के प्रभाव को सीमित कर सकता है; इसी प्रकार केवल कलात्मक चमक मानवीय सार्थकता का पर्याप्त आधार नहीं है। साहित्य की सामाजिक दृष्टि कितनी विश्वसनीय है, इसकी परीक्षा उसके रचनात्मक गठन से भी होती है।

लेखक के प्रश्न से आगे बढ़कर यह खण्ड पाठक, आलोचना, साहित्यिक संस्था और सार्वजनिक मंच की भूमिका पर विचार करता है। साहित्यिक लोकतन्त्रीकरण का अर्थ विभिन्न वर्गों, क्षेत्रों और अनुभवों से उठने वाली आवाजों को अभिव्यक्ति का अवसर, पाठकीय पहुँच और निष्पक्ष मूल्यांकन मिलना है। रचनाकार के सम्मान के साथ पाठक की प्रश्न करने की स्वतन्त्रता बनी रहे, यह आवश्यक है। रचना का मूल्यांकन नाम, निजी निकटता अथवा गुटगत सम्बन्ध के बजाय पाठ, तर्क और रचनात्मक सामर्थ्य के आधार पर हो, तभी साहित्यिक संवाद सार्थक बनता है।

प्रचार, पुरस्कार और प्रतिष्ठा का विवेचन भी इसी कसौटी से जुड़ता है। सम्मान और प्रचार रचना को पाठक तक पहुँचाने में सहायक हो सकते हैं, किन्तु उसके साहित्यिक मूल्य को निर्धारित करने के पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं। पुरस्कार स्वीकार करने अथवा उससे दूरी बनाए रखने मात्र से लेखक की स्वतन्त्रता का निर्णय नहीं किया जा सकता। मूल प्रश्न उसके विवेक और सृजन की प्राथमिकताओं का है। रचना का दीर्घकालीन अर्थ पुनर्पाठ, आलोचना और बदलते सामाजिक अनुभवों के बीच विकसित होता है; 'समय का मूल्यांकन' इसी सक्रिय प्रक्रिया से जुड़ा है।

डिजिटल माध्यमों से सम्बन्धित विमर्श इस चर्चा को नए पाठकीय परिवेश तक ले जाता है। मोबाइल और सामाजिक माध्यम रचना की पहुँच बढ़ा

सकते हैं, साथ ही अधूरे पाठ, तात्कालिक प्रतिक्रिया और क्षणिक दृश्यता का दबाव भी उत्पन्न कर सकते हैं। प्रश्न माध्यम के उत्तरदायी उपयोग का है। संक्षिप्त प्रस्तुति यदि पाठक को मूल पुस्तक की ओर मोड़े, प्रश्न जगाए और गम्भीर संवाद का अवसर बनाए, तो उसकी साहित्यिक उपयोगिता है। बदलते माध्यमों के इस प्रश्न से आगे खण्ड सृजन के अनुशासन और नियमितता पर भी विचार करता है। अध्ययन, अवलोकन, पुनर्लेखन और आवश्यक विराम को भी इस नियमितता में स्थान दिया गया है; निरन्तरता का अर्थ केवल प्रतिदिन लिखे गए पृष्ठों की संख्या नहीं है।

इस सम्पूर्ण विमर्श की रचना-पद्धति ध्यान देने योग्य है। 'पयस्विनी' में संकलित श्री जगदीश प्रसाद मण्डल के कथन अधिकांश विचार-बिन्दुओं का प्रमुख आधार हैं। कुछ विचार-बिन्दुओं और जीवन-सन्दर्भों को स्पष्ट करने के लिए गजेन्द्र ठाकुर द्वारा लिखित 'जगदीश प्रसाद मण्डल : एकटा बायोग्राफी' को भी सहायक स्रोत के रूप में लिया गया है। चयनित कथन अथवा जीवन-सन्दर्भ विचार के प्रवेश-सूत्र बनते हैं; उसके बाद डॉ. उमेश मण्डल स्वतन्त्र प्रश्न, विश्लेषण और समकालीन अर्थ-विस्तार विकसित करते हैं। मूल स्रोत और उसके आधार पर विकसित विवेचन परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी अपने-अपने बौद्धिक उत्तरदायित्व को बनाए रखते हैं।

'विचार-बिन्दु' की रचनात्मक सम्भावना सूत्र से विमर्श तक विकसित होने की इसी प्रक्रिया में निहित है। इसे उद्धरण-संग्रह अथवा मूल पाठ के सरल पुनर्कथन तक सीमित नहीं किया जा सकता। लेखक इस प्रयोग के लिए 'सूत्र-विमर्शात्मक लघुगद्य' नाम प्रस्तावित करते हैं। यह नामकरण एक विधागत सम्भावना का संकेत है, जिसकी सार्थकता स्रोत के प्रति उत्तरदायित्व, तर्क की स्पष्टता, संक्षिप्तता के अनुशासन और पाठकीय संवाद से परखी जाएगी। छोटा आकार पाठक को रुककर विचार करने का अवसर दे सकता है, यदि रचना अपने मूल प्रश्न से सम्बद्ध रहते हुए अर्थ की परतें खोलती है।

श्री जगदीश प्रसाद मण्डल का जीवन इस वैचारिक यात्रा का एक प्रासंगिक सन्दर्भ है। दोनों खण्डों में प्रस्तुत खेती, श्रम, सामाजिक संघर्ष और सृजन के प्रसंग विचार और कर्म के सम्बन्ध को समझने का अवसर देते हैं। इन जीवन-सन्दर्भों का उद्देश्य सम्पूर्ण जीवनी प्रस्तुत करना नहीं, बल्कि स्वनिर्माण

की व्यावहारिक पृष्ठभूमि स्पष्ट करना है। इस कारण स्रोत का सम्मान करते हुए उसे प्रश्न और पुनर्परीक्षण के लिए खुला रखना भी कृति की घोषित पद्धति के अनुरूप है।

जीवन-सन्दर्भों की यह उपस्थिति कृति के वैचारिक धरातल को अमूर्त होने से बचाती है। दोनों खण्डों का स्थानीय आधार भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। मिथिला के खेत, गाँव, लोकगीत, जातिगत सम्बन्ध और भाषा यहाँ ठोस जीवनानुभव की भूमि हैं। इन अनुभवों के गम्भीर विवेचन से श्रम, ज्ञान, न्याय, स्वतन्त्रता और मानवीय गरिमा के व्यापक प्रश्न खुलते हैं। इस अर्थ में स्थानीयता अपने समाज को गहराई से समझते हुए व्यापक मानवीय प्रश्नों तक पहुँचने का माध्यम बनती है। मैथिली जटिल सामाजिक प्रश्नों और वैचारिक संवाद की समर्थ भाषा के रूप में इस प्रक्रिया में सक्रिय होती है।

'स्वनिर्मित जीवन' का मूल आग्रह मनुष्य जिस संसार को पाता है, उसे विवेकपूर्ण कर्म के माध्यम से रूपान्तरित करने का है। समाज मनुष्य की चेतना को आकार देता है; मनुष्य प्रश्न, निर्णय और सामूहिक प्रयास से समाज को प्रभावित करता है। इस पारस्परिकता से जन्मा जीवन-बोध जब सृजन में प्रवेश करता है, तो पाठक के लिए नए संवाद की सम्भावना खोलता है। स्वनिर्माण तब कोई अन्तिम उपलब्धि नहीं, बल्कि सीखने, आत्मपरीक्षण करने और उत्तरदायी कर्म में सक्रिय रहने की निरन्तर प्रक्रिया बन जाता है। 'समाज के भीतर मनुष्य' और 'सृजन के भीतर समाज' इस प्रक्रिया के दो परस्पर सम्बद्ध धरातल हैं। दोनों को एक साथ पढ़ना जीवन और साहित्य के सम्बन्ध को अधिक सजग और मानवीय दृष्टि से समझने का अवसर देता है।

– डॉ. राम अशीष सिंह

पूर्व प्रधानाचार्य
एच.पी.एस. कॉलेज, निर्मली
बी.एन. मण्डल विश्वविद्यालय
मधेपुरा (बिहार)
मो.: +91 99316 63744

दो शब्द

‘स्वनिर्मित जीवन’ का हिंदी अनुवाद करते हुए कई बार ऐसा लगा कि मैं केवल एक भाषा से दूसरी भाषा में शब्द नहीं ले जा रही हूँ, बल्कि उन विचारों के साथ भी चल रही हूँ, जिनसे यह पुस्तक बनी है। मैथिली और हिंदी एक-दूसरे के निकट हैं, फिर भी दोनों का अपना स्वभाव, अपनी लय और अपनी अभिव्यक्ति है। इस निकटता के कारण कई वाक्य सहजता से हिंदी में आ जाते थे, लेकिन कुछ स्थान ऐसे भी थे जहाँ किसी एक शब्द, भाव या वाक्य पर देर तक ठहरना पड़ता था।

अनुवाद की प्रक्रिया में यह अनुभव बार-बार हुआ कि निकट भाषाओं का अनुवाद कई बार दिखने में जितना सरल लगता है, वास्तव में उतना होता नहीं। एक ही शब्द दोनों भाषाओं में प्रचलित हो सकता है, लेकिन उसका भाव, प्रयोग और प्रसंग अलग-अलग हो सकते हैं। कई बार मूल मैथिली का कोई वाक्य अपने पूरे अर्थ के साथ तभी खुलता था, जब उसे केवल शब्दों से नहीं, उसके सामाजिक और सांस्कृतिक सन्दर्भ से भी पढ़ा जाए। ऐसे स्थानों पर शब्द का सीधा हिंदी रूप पर्याप्त नहीं था; पूरे प्रसंग को समझकर वाक्य को हिंदी की प्रकृति के अनुरूप सँवारना पड़ा।

मेरी सबसे बड़ी कोशिश यही रही कि हिंदी पढ़ते समय पाठक को भाषा सहज लगे, लेकिन इस सहजता में मूल मैथिली का विचार, संवेदना और प्रश्नधर्मी स्वर हल्का न पड़ जाए। जहाँ वाक्य-विन्यास बदलना आवश्यक हुआ, वहाँ भी मूल आशय को केन्द्र में रखा गया। अनुवाद करते समय मेरे सामने दो बातें लगातार बनी रहीं- मूल के प्रति निष्ठा और हिंदी की स्वाभाविकता। दोनों के बीच संतुलन साधना इस काम का सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा रहा।

इस पुस्तक के साथ काम करते हुए बार-बार मनुष्य और समाज के सम्बन्ध पर लौटना पड़ा। पहले खण्ड 'समाज के भीतर मनुष्य' में यह प्रश्न सामने आता है कि समाज हमारे सोचने, समझने और जीने के ढंग को किस प्रकार प्रभावित करता है। दूसरे खण्ड 'सृजन के भीतर समाज' में यही विचार आगे बढ़कर साहित्य, रचनाकार और सृजन से जुड़ जाता है। अनुवाद के दौरान धीरे-धीरे यह स्पष्ट होता गया कि दोनों खण्ड अलग होते हुए भी एक ही वैचारिक यात्रा के दो पड़ाव हैं। पहले खण्ड में मनुष्य समाज के भीतर स्वयं को समझता है, और दूसरे में वही चेतना सृजन के माध्यम से फिर समाज के सामने आती है।

इस अनुवाद का एक निजी अनुभव भी मेरे साथ रहा। कई विचार-बिन्दुओं पर काम करते हुए मुझे स्वयं रुककर सोचना पड़ा। कुछ वाक्य केवल अनुवाद करने के लिए नहीं थे; वे अपने व्यवहार, अपने समाज और अपनी बनी-बनाई धारणाओं की ओर फिर से देखने के लिए भी प्रेरित करते थे। कई बार किसी अंश का अनुवाद पूरा करने के बाद भी उसका प्रश्न मन में बना रहता था। इस कारण यह काम मेरे लिए केवल भाषिक अभ्यास नहीं रहा, बल्कि धीरे-धीरे एक पाठकीय और वैचारिक अनुभव भी बनता गया।

एक अनुवादक के रूप में मुझे यह भी ध्यान रखना था कि मूल कृति की स्थानीयता कहीं हिंदी में आते हुए धुँधली न हो जाए। मिथिला का लोकजीवन, श्रम, भाषा, स्त्री-अनुभव, जातिगत सम्बन्ध, परम्परा और सामाजिक व्यवहार इस पुस्तक के विचारों की जमीन हैं। इन्हें सामान्य शब्दों में बदल देना आसान था, लेकिन ऐसा करने से मूल अनुभव की ठोसता कम हो सकती थी। इसलिए जहाँ आवश्यक लगा, वहाँ उस स्थानीय अनुभव और सांस्कृतिक सन्दर्भ को यथासम्भव सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया है।

अनुवाद करते समय मैंने यह सावधानी भी रखी कि मूल पाठ में जो कहा गया है, वही हिंदी में आए। अपनी ओर से उसे सजाने, सरल बनाने या अनावश्यक रूप से विस्तार देने से बचने का प्रयास किया है। किसी विचार को हिंदी पाठक के लिए अधिक स्पष्ट बनाने की आवश्यकता जहाँ महसूस हुई, वहाँ भी मूल के आशय और दिशा को ध्यान में रखा गया। मुझे लगता है कि अनुवादक का काम मूल रचना पर अपनी भाषा थोपना नहीं, बल्कि उसके अर्थ और स्वर को दूसरी भाषा में स्वाभाविक जीवन देना है।

इस पूरी प्रक्रिया में मूल मैथिली पाठ की ओर बार-बार लौटना मेरे लिए आवश्यक रहा। कई जगह पहले किया गया अनुवाद दोबारा पढ़ने पर बदला, कहीं कोई शब्द अधिक उपयुक्त लगा, तो कहीं वाक्य की लय को फिर से सँवारना पड़ा। इस पुनर्पाठ ने मुझे यह समझने में मदद की कि अनुवाद एक बार में पूरा हो जाने वाला काम नहीं, यद्यपि पढ़ने, सोचने और फिर से लिखने की निरन्तर प्रक्रिया है।

अब यह पुस्तक हिंदी पाठकों के सामने है। मेरी इच्छा केवल इतनी है कि पाठक इसे सहजता से पढ़ सकें, इसके विचारों से जुड़ सकें और जहाँ कोई प्रश्न उन्हें भीतर तक छुए, वहाँ कुछ देर ठहरकर अपने अनुभव से भी उसे देख सकें। यदि यह अनुवाद मूल मैथिली कृति और हिंदी पाठक के बीच ऐसा संवाद बना सके, तो मेरा प्रयास सार्थक होगा।

– पल्लवी मण्डल

दोनों खण्डों का वैचारिक सेतु : जीवन से सृजन तक

✳

'स्वनिर्मित जीवन' को दो खण्डों में प्रस्तुत करना केवल विस्तृत सामग्री को बाँटने की सुविधा नहीं है। पुस्तक की विचार-यात्रा स्वाभाविक रूप से दो अलग, किंतु परस्पर जुड़ी दिशाओं में विकसित होती है; खंड-विभाजन उसी वैचारिक संरचना का परिणाम है। पहला खंड मनुष्य के सामाजिक निर्माण को देखता है; दूसरा खंड मनुष्य के रचनात्मक कर्म में समाज की उपस्थिति खोजता है। पहले खंड के केंद्र में प्रश्न है कि समाज मनुष्य को कैसे बनाता है और दूसरा खंड पूछता है कि समाज के भीतर बना मनुष्य अपने सृजन के माध्यम से समाज को कौन-सी दिशा देता है। इसी कारण दोनों खंड अलग होते हुए भी एक ही यात्रा के दो परस्पर जुड़े पड़ाव हैं।

पहले खंड का उपशीर्षक 'समाज के भीतर मनुष्य' है। मनुष्य जब जन्म लेता है, तब उसे भाषा, परिवार, संस्कृति, जाति, लिंग, धर्म, क्षेत्र और आर्थिक स्थिति का पहले से बना संसार मिलता है। समाज उसे परिचय, संबंध, मूल्य और व्यवहार का आरंभिक आधार देता है। किंतु उसी समाज में असमानता, अंधविश्वास, वर्चस्व, अवसरों का अभाव और मनगढ़ंत नैतिकता के अनेक रूप भी रहते हैं। यदि मनुष्य इन सबको बिना प्रश्न किए स्वीकार करता रहे, तो वह समाज द्वारा बनाई गई सीमाओं के भीतर बंद हो सकता है। यदि वह प्रश्न करता है, अनुभव से सीखता है और अपने व्यवहार की परीक्षा करता है, तो अपने जीवन के निर्माण में सक्रिय भूमिका निभाने लगता है।

पहले खंड की यात्रा इसी सक्रिय चेतना के निर्माण से आरंभ होती है। आत्मबल, जीवन की उलझन, सुविधा और दायित्व का द्वंद्व, अहंकार तथा

आत्मपरीक्षण से शुरू हुई यह विचार-यात्रा संस्कृति, लोकस्मृति, स्त्री-अनुभव, परंपरा, आधुनिकता, जाति, क्षेत्र, वर्चस्व और सामाजिक समाधान तक पहुँचती है। अंत में जमीन, पानी, भाषा, स्वतंत्रता, मातृभूमि और मैथिली के प्रति आत्मविश्वास के प्रश्न सामने आते हैं। यह क्रम पाठक को पहले अपने भीतर देखने के लिए प्रेरित करता है, फिर समाज की संरचना पहचानने में सहायता देता है और अंततः अपनी भाषा तथा सामाजिक जीवन के प्रति जिम्मेदारी का बोध कराता है।

खंड का अंतिम आह्वान मैथिली के प्रति हीनभाव छोड़कर उसकी सामर्थ्य पहचानने का है। यहीं से दूसरे खंड का आरंभिक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है- हम किसके रचनाकार हैं? जब व्यक्ति अपनी भाषा और सामाजिक सामर्थ्य पहचान लेता है, तब अगला प्रश्न यह होता है कि वह उस सामर्थ्य का उपयोग किसके लिए करेगा। भाषा केवल गौरव का विषय बनेगी या समाज के उपेक्षित जीवन को अभिव्यक्ति देने का माध्यम? लेखन प्रतिष्ठा का साधन बनेगा या मानवीय चेतना के विस्तार का? 'सृजन के भीतर समाज' इन्हीं प्रश्नों के अनेक पक्ष खोलता है।

दोनों खण्डों के बीच वास्तविक सेतु मनुष्य की चेतना है। समाज चेतना को आकार देता है। चेतना प्रश्न उत्पन्न करती है। प्रश्न आत्मपरीक्षण की ओर ले जाते हैं। आत्मपरीक्षण विचार और कर्म को नई दिशा देता है। जब जीवन से अर्जित बोध रचनात्मक अभिव्यक्ति ग्रहण करता है, तब साहित्य फिर समाज तक पहुँचता है। इस प्रकार समाज से मनुष्य, मनुष्य से सृजन और सृजन से पुनः समाज तक एक निरंतर संबंध बनता है। 'स्वनिर्मित जीवन' की दो-खण्डीय योजना इसी संबंध पर आधारित है।

'स्वनिर्मित जीवन' शीर्षक का अर्थ 'पयस्विनी' के विचार-सूत्र और जगदीश प्रसाद मण्डलजी के जीवन, दोनों से विशेष गहराई प्राप्त करता है। 'पयस्विनी' में वे अपना निर्माण स्वयं करने की आवश्यकता पर बल देते हैं। इस कथन का मूल आशय यह है कि बाहर से मिले नैतिक उपदेश, परंपरागत प्रतिष्ठा या दूसरों के विचार मात्र मनुष्य को विवेकशील नहीं बना सकते। उसे अपने अनुभव, निर्णय और व्यवहार के माध्यम से जीवन की दिशा निर्मित करनी पड़ती है।

किंतु स्वनिर्माण को केवल व्यक्ति की आत्मसफलता की कथा समझना भूल होगी। मण्डलजी का जीवन परिवार, गाँव, खेती, सामाजिक संघर्ष, सहयोग और सामूहिक अनुभवों के बीच बना। उनकी जीवन-दृष्टि धरती और लोकजीवन से जुड़ी रही। खेती उनके लिए केवल खेत जोतना या अन्न उपजाना नहीं थी; उसमें प्रकृति, श्रम, उत्पादन, परिवार, विज्ञान और सामाजिक संबंधों की परस्पर निर्भरता को देखने का अवसर भी था।

नए बीज, उपज बढ़ाने के उपाय, कृषि-प्रशिक्षण और किसानों की सहभागिता जैसे अनुभव उन्हें परिवर्तन के व्यावहारिक स्वरूप से परिचित कराते रहे। खेत में परिवर्तन केवल साधन बदलने से नहीं आता; सोच, सहयोग, अनुभव और सहभागिता को भी बदलना पड़ता है। कृषि-जीवन से मिला यह बोध बाद में उनकी सामाजिक और साहित्यिक दृष्टि में भी दिखाई देता है।

गाँव के समाज में बटाईदारी, सूदखोरी और जमीन के मालिकाना संबंधों में विद्यमान विषमता के विरुद्ध संघर्ष ने उनकी चेतना को दूसरा आयाम दिया। यहाँ अन्याय किसी पुस्तक में पढ़ा हुआ अमूर्त सिद्धांत नहीं था; वह खेत, कर्ज, श्रम, भूख और सामाजिक संबंधों में प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित था। इन अनुभवों से समस्या को स्वीकार करना, उसकी जड़ तक पहुँचना और सामूहिक जागरण तथा सहभागिता के माध्यम से परिवर्तन का मार्ग खोजना उनकी जीवन-दृष्टि का हिस्सा बना।

मण्डलजी के जीवन में प्रतिरोध और निर्माण एक-दूसरे से अलग नहीं रहे। अन्यायपूर्ण व्यवस्था के विरोध के साथ खेती के विकास, उत्पादन-वृद्धि और लोगों को नए कृषि-ज्ञान से जोड़ने के प्रयास भी चलते रहे। केवल पुराने को हटा देना परिवर्तन नहीं है; उसके स्थान पर अधिक न्यायपूर्ण और उपयोगी आधार बनाना भी आवश्यक है। इसी अनुभव से उनके विचार में संघर्ष का अर्थ केवल नकार नहीं, बल्कि निर्माण की जिम्मेदारी भी बनता है।

जीवन के इस चरण में उनकी प्रमुख कर्मभूमि खेत और समाज रहे। साहित्य बाद में व्यवस्थित रूप में सामने आया, किंतु वह कोई अचानक आया मोड़ नहीं था। पढ़ने की रुचि और लिखने की आरंभिक प्रवृत्ति के साथ सामाजिक अनुभव निरंतर संचित होते रहे। संघर्ष के बीच यह बोध गहरा हुआ कि केवल बाहरी व्यवस्था बदल देने से काम पूरा नहीं होता; समाज की मानसिकता, मूल्य-

बोध और विचारधारा में परिवर्तन की आवश्यकता भी रहती है। यहीं जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव रचनात्मक कर्म की दिशा ग्रहण करता है।

इसी कारण जीवन से सृजन तक की यात्रा कोई पलायन नहीं है। खेत, गाँव और सामाजिक संघर्ष छोड़कर साहित्य के किसी अलग संसार में प्रवेश नहीं हुआ; जीवन के ये सभी अनुभव कथा, उपन्यास, नाटक, कविता और वैचारिक गद्य की सामग्री बने। मण्डलजी का यह कथन कि कथा ने नहीं, जीवन ने उन्हें पकड़ रखा है, उनकी सृजन-प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण संकेत देता है। जीवन की घटनाएँ, संबंध, उलझनें और संघर्ष जब चेतना पर गहरा प्रभाव डालते हैं, तब वे रचना का रूप माँगने लगते हैं।

इस अर्थ में मण्डलजी के जीवन को स्वनिर्मित कहा जा सकता है, क्योंकि उन्होंने परिस्थितियों को केवल भोगा नहीं; उन्हें समझा, चुनौती दी और अपने कर्म की दिशा स्वयं चुनी। किंतु यह स्वनिर्माण 'मैंने अकेले ही सब कुछ किया' के दंभ पर आधारित नहीं है। परिवार, गाँव के लोग, सहकर्मी, पाठक, संपादक, प्रकाशन-सहयोगी और साहित्यिक संवाद उनकी यात्रा को निरंतर समृद्ध करते रहे। स्वनिर्माण का अर्थ सामूहिक योगदान को नकारना नहीं, बल्कि प्राप्त परिस्थितियों, अनुभवों और सहयोग को जिम्मेदार कर्म में रूपांतरित करना है।

इस स्वनिर्माण का एक महत्त्वपूर्ण आधार स्वतंत्र निर्णय की सामर्थ्य है। मण्डलजी नए रचनाकारों को लोभ से बचते हुए स्वतंत्र जीवन के निर्माण की बात कहते हैं। आर्थिक, राजनीतिक या साहित्यिक लाभ की आकांक्षा जब निर्णय पर अधिकार जमा लेती है, तब कलम की स्वतंत्रता कमजोर होती है। पद, पुरस्कार, मंच या प्रभाव रचनात्मक यात्रा की स्वाभाविक उपलब्धियाँ हो सकते हैं; समस्या इन उपलब्धियों में नहीं, उन्हें सृजन का लक्ष्य बना लेने में है। उसी प्रकार पुरस्कार न लेना या उससे दूरी बनाए रखना मात्र किसी को स्वतंत्र रचनाकार सिद्ध नहीं करता और पुरस्कार स्वीकार करना भी स्वतंत्रता के अभाव का प्रमाण नहीं है। मूल प्रश्न यह है कि लेखक के निर्णय को क्या संचालित करता है। यदि सम्मान, लाभ या प्रतिष्ठा की आकांक्षा उसकी दृष्टि और अभिव्यक्ति को नियंत्रित करने लगे, तो वह उस सत्य से दूर जा सकता है, जिसे निर्भयता से कहना उसका सामाजिक दायित्व है।

इसका अर्थ सम्मान या स्वीकृति का विरोध नहीं है। प्रश्न प्राथमिकता का

है। रचना का वास्तविक मूल्य केवल पुरस्कार, प्रचार या प्रसिद्धि से तय नहीं होता। वह कितने लोगों तक अर्थपूर्ण रूप से पहुँची, उसने पाठक में जीवन को नई दृष्टि से देखने की प्रेरणा जगाई या नहीं और समाज के दबे हुए अनुभवों को स्वर दे सकी या नहीं, ये प्रश्न उसके सामाजिक मूल्य की गहरी कसौटी बनते हैं।

यहीं 'सृजन के भीतर समाज' की भूमि तैयार होती है। समाज के भीतर विकसित चेतना जब भाषा, साहित्य और रचनात्मक कर्म में उतरती है, तब रचनाकार की दृष्टि, पक्षधरता, स्वतंत्रता, पाठकीय संबंध, साहित्यिक व्यवस्था, बदलते माध्यम और सृजन के अनुशासन के प्रश्न सामने आते हैं।

इन प्रश्नों का विस्तृत विवेचन आगे के प्रवेश-लेख और विचार-बिंदुओं में होगा। यहाँ मूल संबंध इतना ही है कि जीवन से अर्जित अनुभव सृजन का आधार बनते हैं, जबकि सृजन उन अनुभवों को सामाजिक स्मृति, प्रश्न और संवाद के रूप में पुनः जीवन तक पहुँचाता है।

'सृजन के भीतर समाज' लेखक के जीवन और रचना के बीच कृत्रिम दीवार स्वीकार नहीं करता। कागज पर समानता लिखते हुए अपने व्यवहार में भेदभाव करना, प्रेम का साहित्य रचते हुए जीवन में घृणा फैलाना अथवा लोकतंत्र की बात करते हुए साहित्यिक मंच पर मनमानी करना रचनाकार की विश्वसनीयता को कमजोर करता है। साहित्यकार की परीक्षा उसकी रचना में अवश्य होती है, किंतु उसका सामाजिक व्यवहार यह भी बताता है कि रचना में व्यक्त विचार जीवन में कितने उतर पाए हैं।

मण्डलजी के जीवन पर दृष्टि डालने का उद्देश्य व्यक्तिपूजा नहीं है। 'पयस्विनी' स्वयं अंध-स्वीकार का विरोध करती है। उनका जीवन यहाँ इसलिए प्रासंगिक है कि वह विचार के व्यावहारिक निर्माण को देखने का अवसर देता है। खेती, सामाजिक संघर्ष, सामूहिक प्रयास, साहित्यिक श्रम, आलोचना, असहमति और आत्मनिर्णय के बीच एक मनुष्य अपना मार्ग कैसे बनाता है, उनका जीवन इस प्रश्न का ठोस संदर्भ प्रस्तुत करता है। पाठक उनके प्रत्येक विचार से सहमत हों, यह आवश्यक नहीं; वैचारिक संवाद के लिए असहमति भी महत्त्वपूर्ण है।

'स्वनिर्मित जीवन' मण्डलजी की जीवनी नहीं है। यह 'पयस्विनी' के विचार-सूत्र और जीवन-संदर्भ से विकसित स्वतंत्र वैचारिक कृति है। तथापि मूल लेखक की जीवन-दृष्टि को पूरी तरह बाहर रख देने से शीर्षक का एक महत्त्वपूर्ण अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाएगा। जिनके कथन से स्वनिर्माण का प्रश्न उठता है, उनके

जीवन में निर्णय, श्रम, संघर्ष और सृजन का संबंध किस प्रकार विकसित हुआ, इसे देखना सूत्र और जीवन के बीच की दूरी को समझने का अवसर देता है। यहाँ जीवन को रचना का प्रमाणपत्र नहीं माना गया है; वह रचना की सामाजिक पृष्ठभूमि और विचार के व्यावहारिक आधार को समझने का एक संदर्भ मात्र है।

दोनों खण्डों का क्रम मिलकर एक पूर्ण वैचारिक संरचना बनाता है। पहला खंड समाज के भीतर निर्मित हो रही मनुष्य की चेतना को देखता है, जबकि दूसरा खंड उसी चेतना की रचनात्मक अभिव्यक्ति में समाज की उपस्थिति खोजता है। पहले खंड का अंत भाषिक आत्मविश्वास पर होता है और उसके तुरंत बाद दूसरे खंड का आरंभ रचनाकार की सामाजिक पक्षधरता से। इस क्रम में पहला खंड मूलतः पूछता है- हम कैसे बनते हैं? दूसरा खंड इसका अगला प्रश्न उठाता है- बनी हुई चेतना के साथ हम क्या करते हैं? अर्थात् विचार जब जीवन और सृजन में उतरता है, तब उसका वास्तविक व्यावहारिक रूप क्या होता है?

इस यात्रा को एक सूत्र में समझा जा सकता है। मनुष्य समाज से अनुभव प्राप्त करता है। अनुभव प्रश्न जगाता है। प्रश्न विवेक को सक्रिय करता है। विवेक जीवन की दिशा चुनने में सहायता करता है। जीवन का संघर्ष विचार बनता है। विचार रचना में उतरता है। रचना पाठक तक पहुँचकर संवाद उत्पन्न करती है। संवाद समाज की चेतना में परिवर्तन की संभावना जगाता है। बदलता समाज फिर नए अनुभव और नए प्रश्नों को जन्म देता है। इसी निरंतर गति में जीवन और साहित्य एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं।

'पहले खंड से दूसरे खंड तक' की यात्रा समाज की चर्चा से साहित्य की चर्चा तक का विषय-परिवर्तन मात्र नहीं है। यह बोध से जिम्मेदारी तक आगे बढ़ना है। पहला खंड पाठक को स्वयं को और अपने समाज को देखने की दृष्टि देता है। दूसरा खंड पूछता है कि जो कुछ देखा, समझा और अनुभव किया गया, उसे विचार, भाषा, व्यवहार और सृजन में कैसे उतारा जाए।

इसी सेतु को पार करते हुए पाठक 'सृजन के भीतर समाज' में प्रवेश करता है। अब प्रश्न केवल यह नहीं रह जाता कि समाज हमें कैसे बनाता है। प्रश्न यह भी है कि हम अपने विचार, भाषा, साहित्य और कर्म से किस प्रकार के समाज के निर्माण में सहभागी हो रहे हैं। 'स्वनिर्मित जीवन' का दूसरा खंड इसी रचनात्मक और सामाजिक जिम्मेदारी की पड़ताल है।

प्रवेश : सृजन के भीतर समाज

✳

सृजन पहली दृष्टि में रचनाकार का निजी कर्म दिखाई देता है। लेखक अकेला कागज के सामने बैठता है, अपने अनुभव को शब्द देता है और रचना को आकार देता है। किंतु वह जिस भाषा में लिखता है, वह उसे समाज से मिली होती है। उसके अनुभव संबंधों, श्रम, संघर्ष, स्मृति और अपने समय की घटनाओं से बने होते हैं। वह जिन विषयों को चुनता है, जो प्रश्न उठाता है और जिस जीवन को अनदेखा छोड़ देता है, उन सबका सामाजिक अर्थ होता है। इसी कारण सृजन के भीतर केवल रचनाकार ही नहीं, उसका समाज भी उपस्थित रहता है।

'स्वनिर्मित जीवन' का दूसरा खंड 'सृजन के भीतर समाज' इसी उपस्थिति के अनेक रूपों की पड़ताल करता है। साहित्य समाज को केवल विषय के रूप में ग्रहण नहीं करता; समाज उसकी भाषा, दृष्टि, पात्र, मूल्य, पाठक और अभिव्यक्ति-पद्धति में भी उपस्थित रहता है। कोई रचना गाँव की कथा हो या शहर की, प्रेम की कविता हो या सामाजिक संघर्ष का उपन्यास, उसके भीतर मनुष्यों के पारस्परिक संबंध और रचनाकार की जीवन-दृष्टि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त होती है।

दूसरे खंड का आरंभ 'हम किसके रचनाकार हैं?' प्रश्न से होता है। यह केवल लेखक के निजी परिचय का प्रश्न नहीं; इसका उत्तर सृजन की सामाजिक दिशा स्पष्ट करता है। रचनाकार समाज के प्रभावशाली वर्ग की सुविधा, भाषा और दृष्टि को केंद्र मानता है या साधारण लोगों के श्रम, दुःख, आशा और संघर्ष को भी साहित्यिक महत्त्व देता है? वह सत्ता और प्रतिष्ठा के निकट रहकर अपना स्थान सुरक्षित करना चाहता है या दबे-कुचले लोगों के जीवन, अनुभव और अनकहे सत्य को साहित्य में उचित स्थान देता है? उसका लेखन किसके जीवन को दृश्य बनाता है और किसे अदृश्य छोड़ देता है? मण्डलजी के जीवन और सृजन-दृष्टि में साधारण जन, श्रमशील समाज और उपेक्षित जीवन के प्रति यह

पक्षधरता केवल विषय-चयन नहीं, बल्कि दीर्घ सामाजिक अनुभव से विकसित दृष्टि है। इसलिए यह प्रश्न केवल सृजन के सामाजिक चरित्र को सामने नहीं लाता, बल्कि यह भी स्पष्ट करता है कि रचनाकार अपनी साहित्यिक चेतना को समाज के किस हिस्से के जीवन से जोड़ता है।

'किसके रचनाकार' होने के प्रश्न का अर्थ केवल किसी एक सामाजिक वर्ग के पक्ष में घोषणा करना नहीं है। साहित्य की पक्षधरता उसके संपूर्ण रचना-विधान में दिखाई देती है। पात्र को कितनी मानवीय गहराई दी गई है, उसके अनुभव को कितना सम्मान मिला है, समस्या और घटना की जड़ तक पहुँचने का प्रयास हुआ है या नहीं, और रचना पाठक पर पूर्वनिर्धारित निष्कर्ष थोपने के बजाय उसे सोचने का अवसर देती है या नहीं, ये सभी बातें उसकी पक्षधरता स्पष्ट करती हैं। कलात्मक परिपक्वता और सामाजिक दायित्व एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। मानवीय दृष्टि रचना को सार्थकता देती है और सुदृढ़ रचना-विधान उस दृष्टि को प्रभावी तथा दीर्घजीवी बनाता है।

दूसरे खंड के पहले दस विचार-बिंदु रचनाकार की सामाजिक दृष्टि, लोकजीवन और साहित्य के पारस्परिक संबंध को स्पष्ट करते हैं। संस्कार का प्राण लोक-कंठ में है, क्योंकि संस्कृति केवल शास्त्र के लिखित विधान से जीवित नहीं रहती; लोक की स्मृति, गीत, बोली और व्यवहार उसे जीवन देते हैं। धरती से जन्मा साहित्य अपने क्षेत्र की मिट्टी-पानी की सुगंध रखते हुए भी अनुवाद और पाठकीय संवाद के माध्यम से दुनिया की संपत्ति बन सकता है। स्थानीयता साहित्य की सीमा नहीं; अपने जीवन की गहरी पहचान व्यापक मनुष्यता तक पहुँचने का मार्ग बन सकती है।

इसी क्रम में साहित्यिक मूल्यांकन में रक्त-संबंध के स्थान पर पाठ-संबंध का महत्त्व सामने आता है। साहित्यकार का मूल्यांकन कुल, जाति, क्षेत्र, परिचय या निजी निकटता के आधार पर नहीं, रचना के आधार पर होना चाहिए। यदि रचना समाज का दर्पण बने, तो दर्पण का साफ रहना आवश्यक है। पक्षपात, प्रिय-अप्रिय का भेद और पूर्वाग्रह रचनाकार की दृष्टि को विकृत कर देते हैं। समदृष्टि का अर्थ भावनाहीनता नहीं; प्रत्येक मनुष्य के जीवन को समान मानवीय गरिमा से देखने का साहित्यिक अनुशासन है।

मण्डलजी का यह कथन कि कथा ने उन्हें नहीं, जीवन ने उन्हें पकड़ रखा

है, उनकी सृजन-प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण संकेत देता है। रचनाकार कथा खोजने के लिए जीवन से दूर नहीं जाता; जीवन स्वयं उसे कथा की ओर ले जाता है। घटना, संबंध, अन्याय, संघर्ष और करुणा के अनुभव जब मन पर गहरा प्रभाव छोड़ते हैं, तब वे अभिव्यक्ति माँगने लगते हैं। मन के भीतर का अनुभव जब पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं हो पाता, तब रचनात्मक बेचैनी उत्पन्न होती है। यही बेचैनी लेखक को उचित शब्द, रूप और दृष्टि की खोज में निरंतर सक्रिय रखती है।

शब्द यहाँ केवल भाषा का बाहरी रूप नहीं रह जाता। प्रत्येक शब्द अपने साथ इतिहास, सामाजिक अनुभव और अर्थ की अनेक परतें लेकर आता है। रचनाकार जब किसान, मजदूर, स्त्री, भूख, संघर्ष, प्रेम, मातृभूमि या स्वतंत्रता लिखता है, तब वह केवल शब्द नहीं लिखता; उन शब्दों से जुड़े जीवन का नक्शा भी बनाता है। इसी कारण शब्द-चयन साहित्यिक शिल्प के साथ सामाजिक जिम्मेदारी का प्रश्न भी है।

ग्यारहवें से बीसवें विचार-बिंदु सत्ता के केंद्र और हाशिये की आवाज के बीच साहित्यकार का स्थान खोजते हैं। साहित्यिक संसार में भी केंद्र और हाशिये बनते हैं। कुछ व्यक्तियों को मंच, संस्था, प्रकाशन और समीक्षा के अवसर सहज मिलते हैं, जबकि अनेक समर्थ आवाजें पहुँच के अभाव में किनारे रह जाती हैं। 'सृजन के भीतर समाज' यह पड़ताल करता है कि सामाजिक वर्चस्व साहित्यिक संरचना में किस प्रकार प्रवेश करता है और रचनाकार अपनी स्वतंत्रता तथा वैचारिक ईमानदारी को किस प्रकार बचाता है।

मण्डलजी अपने सृजन का आधार समाज के दबे-कुचले लोगों को मानते हैं। यह दृष्टि उनके साहित्य को दयाभाव की ओर नहीं ले जाती। हाशिये का मनुष्य उनकी रचनाओं में अपने श्रम, बुद्धि, अनुभव और संघर्ष के साथ उपस्थित होता है। वह समाज के परिवर्तन का निष्क्रिय प्रतीक्षाकर्ता नहीं, सक्रिय वाहक है। साहित्य उसके जीवन को केवल दर्ज नहीं करता; उसकी मानवीय सामर्थ्य और सामाजिक भूमिका को भी पहचानता है।

मुख्यधारा से हाशिये पर होने के प्रश्न के उत्तर में मण्डलजी स्वयं को हाशिये पर पड़ा हुआ नहीं, नई धारा को गति देने वाला मानते हैं। यह दृष्टि साहित्यिक स्वीकृति की प्रचलित धारणाओं को चुनौती देती है। केंद्र की मान्यता न मिलना हमेशा रचनात्मक कमजोरी का प्रमाण नहीं होता। कई बार नया विचार

आरंभ में छोटी धारा के रूप में दिखाई देता है। यदि उसमें जीवन-सत्य, रचनात्मक शक्ति और सामाजिक सार्थकता है, तो वह धीरे-धीरे व्यापक साहित्यिक धारा बन सकता है।

स्वतंत्र कलम का आधार स्वतंत्र जीवन है। लोभ, पद, पुरस्कार, सत्ता-समीपता और निजी लाभ का दबाव लेखक के निर्णय को प्रभावित कर सकता है। जब बाहरी स्वीकृति रचना का मुख्य लक्ष्य बन जाती है, तब लेखक कठिन प्रश्नों से बचने लगता है। लोभ से मुक्त जीवन लेखक को इस अर्थ में स्वतंत्र बनाता है कि वह अपने अनुभव, विवेक और मानवीय दायित्व के आधार पर लिख सके।

सम्मानपत्र, प्रचार और पुरस्कार साहित्यिक यात्रा का हिस्सा हो सकते हैं, किंतु उसका अंतिम उद्देश्य नहीं। सम्मान रचनाकार को प्रसन्नता और सामाजिक स्वीकृति देता है, फिर भी उसका दायित्व समाप्त नहीं करता। प्रचार रचना को दृश्य बना सकता है, किंतु जीवन-दिशा देने की क्षमता उसके विषय, दृष्टि और कलात्मक शक्ति से बनती है। वर्तमान का कर्म भविष्य का साहित्य बनाता है और रचना का दीर्घकालीन मूल्य समय, पाठक तथा बदलते समाज के अनुभवों के बीच निर्धारित होता है।

संघर्ष जब साहित्य का रूप ग्रहण करता है, तब वह केवल टकराव का अभिलेख नहीं रह जाता। रचना संघर्ष के कारण, मानवीय पीड़ा, संबंधों की जटिलता और परिवर्तन की संभावनाएँ खोलती है। सामाजिक लड़ाई यदि घृणा तक सीमित रहे, तो नए विभाजन को जन्म दे सकती है। साहित्य संघर्ष को न्याय, प्रेम और मानवीय सम्मान का व्यापक संदर्भ दे सकता है। इसी अर्थ में सृजन प्रतिरोध के साथ पुनर्निर्माण की संभावना भी जगाता है।

इक्कीसवें से तीसवें विचार-बिंदु लेखक से पाठक, रचना से उसकी पहुँच और सृजन से साहित्यिक व्यवस्था तक विचार-यात्रा को आगे बढ़ाते हैं। 'लोग पढ़ते हैं, लेकिन बोलते क्यों नहीं?' प्रश्न पाठकीय निष्क्रियता को सामने लाता है। पढ़ना केवल शब्द ग्रहण करना नहीं; रचना से संवाद करना भी है। पाठक जब प्रश्न करता है, अपना मत व्यक्त करता है, असहमति रखता है और रचना के अर्थ पर विचार-विनिमय करता है, तब साहित्यिक जीवन अधिक सक्रिय बनता है। अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त न करने वाला पाठक भी साहित्य का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है, किंतु संवादशील पाठक रचना के अर्थ-विस्तार और साहित्यिक दिशा को

प्रभावित करने की सक्रिय सामर्थ्य रखता है।

लोक तक न पहुँचा साहित्य अपने सामाजिक प्रभाव में सीमित रह जाता है। किंतु पहुँच का अर्थ केवल बिक्री, प्रचार या सामाजिक माध्यमों पर दृश्यता नहीं है। वास्तविक पहुँच तब बनती है, जब रचना पाठक के अनुभव से संबंध स्थापित करती है। प्रकाशन, वितरण, पुस्तकालय, गोष्ठी, अनुवाद, समीक्षा और डिजिटल माध्यम इस संबंध के रास्ते बना सकते हैं। यदि ये साधन कुछ गुटों या प्रभावशाली लोगों तक सीमित रहें, तो समर्थ रचनाकार और व्यापक पाठक-वर्ग के बीच दूरी बनी रहती है।

मैथिली साहित्य के लोकतंत्रीकरण का प्रश्न यहीं उठता है। लोकतंत्रीकरण का अर्थ केवल अधिक लोगों का लिखना नहीं; विभिन्न वर्गों, क्षेत्रों, लिंगों और सामाजिक अनुभवों की आवाजों को साहित्यिक अवसर, मंच, मूल्यांकन और पाठकीय पहुँच मिलना भी है। साहित्यिक संस्था यदि निजी प्रभाव, गुट या सत्ता-समीपता से चलेगी, तो नई प्रतिभाएँ किनारे हो जाएँगी। मंच जब अपना उत्तरदायित्व भूलकर निजी मनमानी का साधन बनता है, तब साहित्यिक मूल्यांकन और संवाद दोनों कमजोर पड़ते हैं।

मोबाइल और डिजिटल माध्यम साहित्य के सामने नई संभावनाएँ और नए संकट, दोनों लाते हैं। पुस्तक, पत्रिका और गोष्ठी के साथ अब विचार तुरंत व्यापक लोगों तक पहुँच सकते हैं। नया लेखक अपनी रचना सीधे पाठकों के सामने रख सकता है। किंतु यही तेजी अधूरे पाठ, तात्कालिक प्रतिक्रिया, सतही प्रसिद्धि और बिना जाँचे-परखे विचारों के व्यापक प्रसार का संकट भी उत्पन्न करती है। साधन आधुनिक हो जाने से साहित्यिक विवेक अपने-आप आधुनिक नहीं हो जाता। माध्यम की सार्थकता उसके जिम्मेदार उपयोग से तय होती है।

प्रतिष्ठा बाहरी घोषणा से स्थायी नहीं बनती। पुरस्कार, लोकार्पण, प्रशंसा और प्रचार व्यक्ति को क्षणिक दृश्यता दे सकते हैं; रचनात्मक प्रतिष्ठा निरंतर कर्म, पाठकीय विश्वास और समय की परीक्षा से बनती है। अवसर हमेशा बाहर से आकर द्वार नहीं खटखटाता। सजग दृष्टि सामान्य जीवन के भीतर विषय, प्रश्न और रचनात्मक संभावना पहचानती है। सृजनशील व्यक्ति प्रतीक्षा में निष्क्रिय नहीं रहता; अध्ययन, अवलोकन और नियमित अभ्यास से अपनी तैयारी करता रहता है।

इकतीसवें से चालीसवें विचार-बिंदु भाषा और सत्य से लेकर लोक, मिथिला, डिजिटल माध्यम, साहित्यकार के व्यवहार, गुटबाजी और संवाद तक अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को एक साथ सामने लाते हैं। इस क्रम में विचार केवल रचना तक सीमित नहीं रहता; साहित्यिक जीवन के संस्कार और आचरण के प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। लेखक अपनी भाषा पर कितना भरोसा करता है, सत्य के प्रति कैसी जिम्मेदारी निभाता है, लोकजीवन को किस दृष्टि से देखता है और असहमति से किस प्रकार संवाद करता है, ये सब उसके रचनात्मक व्यक्तित्व के अभिन्न हिस्से बनते हैं।

भाषा स्वयं कमजोर नहीं होती; उसके प्रति भरोसा कमजोर हो सकता है। जब लेखक अपनी भाषा में आधुनिक जीवन, विज्ञान, समाज, विचार और मानवीय जटिलताओं को व्यक्त करने से हिचकता है, तब भाषा की नहीं, आत्मविश्वास की सीमा सामने आती है। निरंतर सृजन, अध्ययन, अनुवाद और प्रयोग से भाषा अपनी अभिव्यक्ति-सामर्थ्य विकसित करती है। भाषा की सामर्थ्य उसके उपयोग से बढ़ती है, उपेक्षा से नहीं।

सत्य को हाशिये का कह देने से उसका मूल्य कम नहीं किया जा सकता। कई बार सत्य की स्वीकृति इसलिए विलंबित होती है कि वह स्थापित हित, प्रतिष्ठा या सुविधा के लिए असुविधाजनक होता है। साहित्य का दायित्व उस दबे हुए सत्य को दृश्य बनाना है। किंतु सत्य की प्रस्तुति तथ्य, संवेदना और कलात्मक अनुशासन के साथ होनी चाहिए। आरोप, उत्तेजक घोषणा या अतिरंजना रचना की विश्वसनीयता को कमजोर कर सकते हैं।

अतीत का गौरव साहित्य को स्मृति और आधार देता है, किंतु अपने समय की धड़कन सुनना भी उतना ही आवश्यक है। साहित्य यदि अतीत में ही अटक जाए, तो वर्तमान के प्रश्नों और जीवन के बदलते यथार्थ से दूर हो सकता है। लोक की भाषा में रचा साहित्य लोगों को अपने अनुभव, संवेदना और जीवन की पहचान देता है तथा समाज के भीतर पारस्परिक जुड़ाव को गहरा करता है। मिथिला और मैथिली किसी एक वर्ग की संपत्ति नहीं; इसका सृजन, विकास और भविष्य समाज के प्रत्येक हिस्से की सहभागिता और जिम्मेदारी से जुड़ा है।

साहित्यकार का व्यवहार उसके घोषित मूल्यों की व्यावहारिक कसौटी बनता है। जो लेखक समानता की बात लिखता है, किंतु साहित्यिक गतिविधियों

में पक्षपात करता है; संवाद का समर्थन करता है, किंतु असहमत आवाजों को दबाता है; अथवा प्रेम की रचना करता है, किंतु निजी संबंधों में घृणा फैलाता है, तो उसके विचार की विश्वसनीयता कमजोर पड़ती है। रचना और जीवन पूरी तरह एक जैसे नहीं हो सकते, किंतु दोनों के बीच निरंतर विरोध बने रहना भी रचनाकार की नैतिक विश्वसनीयता को प्रश्नों के घेरे में लाता है।

गुट साहित्य को सीमित करते हैं। आत्मीयता, विचार-साम्य और सहयोग स्वाभाविक हैं; किंतु जब कोई समूह अपने लोगों की कमजोर रचनाओं को आगे बढ़ाता है और बाहर की समर्थ रचनाओं को किनारे करता है, तब साहित्यिक मूल्यांकन विकृत होता है। यदि उद्देश्य साहित्य का विस्तार हो, तो मतभेद संवाद में परिणत हो सकते हैं। विचारों का खुला विनिमय लेखक और पाठक, दोनों को अपनी सीमाएँ दिखाता है और साहित्य को गतिशील रखता है।

इकतालीसवें से पचासवें विचार-बिंदु सृजन की नियमितता, रचनात्मक अनुशासन और साहित्य की दीर्घ सामाजिक भूमिका के निष्कर्ष तक पहुँचते हैं। रचना फुरसत के समय का खेल नहीं, बल्कि जीवन की नियमित वृत्ति है। प्रेरणा के क्षण महत्त्वपूर्ण अवश्य हैं, किंतु केवल प्रेरणा से दीर्घ साहित्यिक यात्रा संभव नहीं। अध्ययन, अवलोकन, समय-संयम, नियमित लेखन, पुनर्विचार और निरंतर अभ्यास मिलकर रचनाकार की तैयारी तथा सृजनात्मक अनुशासन बनाते हैं। मण्डलजी के विस्तृत और निरंतर सृजन के मूल में इसी नियमित श्रम, अध्ययन और जीवन से जुड़ी सक्रियता को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

समाज से कटकर साहित्य अपना वास्तविक स्वरूप नहीं पकड़ सकता। रचनाकार के लिए समाज की गति पर दृष्टि रखना आवश्यक है, क्योंकि समय निरंतर बदलता है। नई समस्याएँ, संबंध, तकनीक, संघर्ष और मानवीय आकांक्षाएँ जन्म लेती रहती हैं। जो साहित्य इन बदलावों को सुनता है, वही अपने समय की जीवंत अभिव्यक्ति बन सकता है। समाज से जुड़ा साहित्य लोकचेतना में प्रवेश करके प्रश्न, संवाद और परिवर्तन की आकांक्षा उत्पन्न करता है।

साहित्य का मूल मानवीय स्वर प्रेम और भाईचारा है, किंतु उसकी साधना स्वयं से आरंभ होती है। प्रेम का अर्थ अन्याय देखते हुए भी मौन रहना नहीं है। जीवन के प्रति प्रेम मनुष्य की गरिमा, अधिकार और संभावना का पक्ष लेता है। इसी प्रेम से जीवन का संघर्ष सृजन का रूप ग्रहण करता है। विचारों के संघर्ष में

साहित्य प्रभावशाली माध्यम बनता है, क्योंकि वह केवल बाहरी व्यवस्था पर प्रश्न नहीं उठाता; मनुष्य के भीतर संवेदना, विवेक और आत्मपरीक्षण भी जगाता है।

रचना की दशा-दिशा अच्छी रहेगी, तो साहित्य की धारा बनी रहेगी। 'दशा' रचना की भाषिक, कलात्मक और संरचनात्मक गुणवत्ता है, जबकि 'दिशा' उसका मानवीय तथा सामाजिक अभिप्राय। कमजोर रचना-विधान उचित विचार को प्रभावहीन बना सकता है और अनुचित दिशा कलात्मक चमक के बीच भी रचना की मानवीय सार्थकता को कमजोर कर सकती है। साहित्य तभी प्रभावी बनता है, जब रचनात्मक कौशल और जीवन के प्रति उत्तरदायित्व एक-दूसरे से जुड़ते हैं।

मूल्यांकन समय करेगा, साहित्यकार का काम सृजन करते रहना है। इसका अर्थ आलोचना या वर्तमान मूल्यांकन की उपेक्षा नहीं। समकालीन समीक्षा लेखक को अपनी सीमाएँ समझने का अवसर देती है, किंतु रचना का दीर्घकालीन साहित्यिक मूल्य पाठकीय अनुभव और समय की बदलती कसौटियों के बीच बनता है। पुरस्कार न मिलने से सार्थक रचना निरर्थक नहीं हो जाती और पुरस्कार मिल जाने से प्रत्येक रचना कालजयी भी नहीं बन जाती। रचनाकार का वास्तविक दायित्व निरंतर कर्म और जीवन के प्रति अपनी जिम्मेदारी निभाना है।

दूसरे खंड का अंतिम विचार साहित्य की निरंतरता पर गहरा विश्वास व्यक्त करता है। समाज की साँस जब तक चलेगी, साहित्य की धारा तब तक बहती रहेगी। क्योंकि समाज में जब तक सुख-दुःख, प्रेम-संघर्ष, न्याय-अन्याय, निर्माण-विनाश, आशा-निराशा और मनुष्य के बदलते अनुभव रहेंगे, तब तक उन्हें कहने, सुनने, लिखने और समझने की आवश्यकता भी बनी रहेगी। प्रत्येक समय अपने प्रश्न लेकर आता है और प्रत्येक पीढ़ी उन प्रश्नों को अपने अनुभव, भाषा और संवेदना के आधार पर नए रूप में व्यक्त करती है। माध्यम बदलेंगे, भाषा बदलेगी, रचना-रूप बदलेंगे, पाठकों की आदतें और साहित्य के प्रसार के साधन भी बदलते रहेंगे; किंतु जीवन को अभिव्यक्त करने की मानवीय आवश्यकता समाप्त नहीं होगी। साहित्य का स्थायित्व उसके किसी एक रूप में नहीं, बल्कि जीवन के बदलते यथार्थ को निरंतर ग्रहण करते हुए नई अभिव्यक्ति खोजने की इसी सामर्थ्य में है। इस अर्थ में साहित्य केवल समय का साक्षी नहीं,

बल्कि मनुष्य के अनुभव, स्मृति, प्रश्न और भविष्य की संभावनाओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने वाला जीवित मानवीय संवाद है।

'सृजन के भीतर समाज' के पचास विचार-बिंदु इसी व्यापक यात्रा के अलग-अलग पड़ाव हैं। पहला पड़ाव रचनाकार का परिचय और दृष्टि खोजता है। दूसरा सत्ता, हाशिया, स्वतंत्रता और साहित्यिक मूल्य के संबंध खोलता है। तीसरा पाठक, मंच, संस्था, माध्यम और स्वीकृति की परीक्षा करता है। चौथा भाषा, लोक, मिथिला, व्यवहार और संवाद की जिम्मेदारी सामने लाता है। पाँचवाँ नियमित सृजन, प्रेम, संघर्ष, समय और साहित्य की निरंतर धारा के निष्कर्ष तक पहुँचता है।

प्रत्येक विचार-बिंदु स्वतंत्र रूप से पढ़ा जा सकता है। किंतु क्रम से पढ़ने पर रचनाकार से रचना, रचना से पाठक, पाठक से साहित्यिक संस्था और वहाँ से व्यापक समाज तक बनते संबंध स्पष्ट होते हैं। यह क्रम केवल साहित्य की बाहरी व्यवस्था की आलोचना नहीं; लेखक, पाठक और साहित्यिक गतिविधियों से जुड़े प्रत्येक व्यक्ति को अपनी भूमिका के आत्मपरीक्षण का अवसर देता है।

प्रश्न अंततः हमारी ओर आता है। हम क्या लिखते हैं, क्या पढ़ते हैं, किसे आगे बढ़ाते हैं, किसकी आवाज सुनते हैं और अपनी भाषा के भविष्य के लिए कौन-सा कर्म करते हैं? साहित्य का समाज केवल लेखकों से नहीं बनता। पाठक, संपादक, प्रकाशक, समीक्षक, अनुवादक, आयोजक और सामान्य भाषा-सेवी भी उसके निर्माण में सहभागी होते हैं। 'सृजन के भीतर समाज' इसी सामूहिक दायित्व को पहचानने की वैचारिक यात्रा है।

पहला खंड मनुष्य को समाज के भीतर अपने निर्माण की सामर्थ्य पहचानने में सहायता देता है। दूसरा खंड उसी सामर्थ्य को सृजन, संवाद और सामाजिक जिम्मेदारी में उतारने का प्रश्न उठाता है। सृजन तभी स्वनिर्मित जीवन का सार्थक विस्तार बनता है, जब वह लेखक की निजी उपलब्धि तक सीमित न रहकर समाज की चेतना, प्रेम, न्याय और परिवर्तन की यात्रा में सहभागी बने।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 1

हम किसके रचनाकार हैं?

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "वहीं अपने साहित्य की यह समीक्षा भी करेंगे कि हम किसके रचनाकार हैं।" (पृ. 27)

यह पंक्ति साहित्यिक आत्मपरीक्षण का एक आवश्यक प्रश्न उठाती है। रचनाकार केवल भाषा और शब्द नहीं चुनता; वह जीवन के उस हिस्से को भी चुनता है, जिसे साहित्य के भीतर स्थान देना है। इसी चयन से उसका सामाजिक पक्ष स्पष्ट होता है और प्रश्न उठता है- हम किसके रचनाकार हैं?

मैथिली साहित्य में लंबे समय तक एकांगी प्रवृत्ति सक्रिय रही। कुछ विशेष वर्ग, संस्कार, भाषा-रूप और संवेदनाएँ केंद्र में रहे; किंतु खेत में श्रम करते, अभाव झेलते, जातीय दूरी सहते और दहेज, शिक्षा-व्यय, भूख, जीविका की असुरक्षा तथा अपमान के दबाव में जीते लोगों का जीवन प्रायः किनारे कर दिया गया।

मण्डलजी का साहित्य इसी हाशिये पर पड़े जीवन के पक्ष में खड़ा है। उनके लिए केवल सजा-सँवरा समाज साहित्य का विषय नहीं; दबा हुआ, उपेक्षित और संघर्षशील समाज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। सभ्यता और संस्कृति के नाम पर ढँके हुए जीवन-सत्य को वे रचना के केंद्र में लाते हैं।

"हम किसके रचनाकार हैं?" यह प्रश्न केवल लेखक तक सीमित नहीं है। आलोचक किसका साहित्य पढ़ता है, संस्था किसे प्रोत्साहित करती है और पाठक किसके जीवन को अपने अनुभव से जोड़ता है? यदि बहुसंख्य लोगों का जीवन अनुपस्थित रहेगा, तो साहित्य की समीक्षा अधूरी रह जाएगी।

यदि साहित्य केवल प्रतिष्ठित जीवन का दर्पण बनेगा, तो समाज का पूरा चेहरा दिखाई नहीं देगा। उसे श्रम, भूख, स्त्री की चुप्पी, किसान की चिंता, पिछड़े समाज की पीड़ा, अपमानित लोगों का स्वाभिमान और संघर्ष के भीतर का प्रकाश भी दिखाना होगा। साहित्य की नैतिकता उन जीवनानुभवों को अभिव्यक्ति देने में है, जिन्हें चुप करा दिया गया है।

साहित्य की वास्तविक परीक्षा केवल उसका सौंदर्य नहीं, यह भी है कि वह किसके जीवन को महत्त्वपूर्ण और उल्लेख करने योग्य मानता है। छूटे हुए

लोगों के जीवन को केंद्र में लाने वाला साहित्य ही समाज की गहरी सच्चाई तक पहुँचता है।

हम किसके रचनाकार हैं? मण्डलजी का यह प्रश्न आज हम सबके सामने है।

साहित्य का भविष्य तभी खुलेगा, जब उसके केंद्र में समाज का संपूर्ण जीवन आएगा, उसका एकांगी रूप मात्र नहीं।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 2

संस्कार का प्राण लोक-कंठ में है

'पयस्विनी' के 'संस्कार और संस्कार-गीत' लेख में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "लोकगीतों की मनोहर फुलवारी से यदि संस्कार-गीतों को हटा दिया जाए, तो वह निष्प्राण हो जाएगी।" (पृ. 20)

यह पंक्ति मण्डलजी की संस्कृति-दृष्टि का महत्त्वपूर्ण संकेत है। वे संस्कार को विधि-विधान, कर्मकांड अथवा पुरोहिती व्यवस्था तक सीमित नहीं रखते। उनके लिए संस्कार का प्राण वहाँ है, जहाँ लोक अपने दुःख-सुख, आनंद, भय, विश्वास, संबंध और स्मृति को गीतों में व्यक्त करते हैं।

संस्कार केवल नियम बन जाए, तो बोझ बन सकता है। लोक-कंठ में गीत बनकर उतरता संस्कार सामूहिक स्मृति बन जाता है। मुंडन, उपनयन, विवाह, पर्व-त्योहार, पारिवारिक मिलन और स्त्री-कंठ से उठते स्वर मिलकर उसे जीवित बनाते हैं।

संस्कृति केवल पुस्तकों में नहीं बचती; वह लोक के कंठ, गाँव के आँगन, सामूहिक गायन और अवसरों से जुड़ी भावनाओं में जीवित रहती है। गीत के बिना संस्कार सूखा विधान बन सकता है, किंतु गीत उसे स्वर, लय और आत्मा देता है।

संस्कार-गीत केवल गान नहीं, मिथिला के स्त्री-जीवन की आवाज, परिवार की भाव-संरचना और पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती स्मृति का सेतु हैं। यह सेतु टूटेगा, तो संस्कार का बाहरी ढाँचा बचा रह सकता है, किंतु उसके भीतर का जीवन सूख जाएगा।

मण्डलजी परंपरा को न आँख मूँदकर स्वीकार करते हैं, न जल्दबाजी में खारिज करते हैं। जहाँ परंपरा मनुष्य को बाँधती है, वहाँ वे प्रश्न करते हैं; जहाँ वह लोकस्मृति, सामूहिकता और सौंदर्य को बचाती है, वहाँ उसके जीवन-तत्त्व को पहचानते हैं।

'पयस्विनी' सिखाती है कि संस्कार का मूल्य बाहरी आडंबर में नहीं, लोकजीवन से उसके जीवित संबंध में है। जो संस्कार मनुष्यों को जोड़ता है, स्मृति और गीत को बचाता है तथा समाज के भीतर भावनात्मक सेतु बनाता है, वही संस्कार; संस्कृति का जीवंत रूप बनता है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 3

धरती से जन्मा साहित्य दुनिया की संपत्ति बनता है

'पयस्विनी' के प्रश्नोत्तर अंश में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "किसी भाषा का साहित्य केवल उसी क्षेत्र का नहीं, दुनिया की संपत्ति बनता है।" (पृ. 71)

यह पंक्ति मण्डलजी की साहित्य-दृष्टि की व्यापक घोषणा है। मैथिली साहित्य का स्थानीय धरातल और उसका व्यापक मानवीय अर्थ, दोनों इसमें एक साथ उपस्थित हैं। अपनी भाषा, गाँव और लोकजीवन पर लिखा साहित्य छोटा नहीं होता; धरती से जीवित संबंध रखने वाला साहित्य दुनिया की संपत्ति बनने की सामर्थ्य रखता है।

मण्डलजी का रचना-संसार इसका प्रमाण है। उनका साहित्य मिथिला के लोकजीवन से जन्म लेता है, किंतु उसका अर्थ मिथिला तक सीमित नहीं रहता। उसमें मनुष्य का दुःख, श्रम, अन्याय के विरुद्ध खड़े होने की शक्ति, आत्मसम्मान और जीवित रहने की जिद है। इसी कारण स्थानीय होते हुए भी वह व्यापक मानवीय अर्थ ग्रहण करता है।

साहित्य का महत्त्व दूर-दराज के चमकदार विषय उठाने में नहीं, अपने समाज के भीतर छिपे जीवन-सत्य को गहराई और ईमानदारी से पहचानने में है। जो लेखक अपने लोक की पीड़ा, भाषा, श्रम और स्वप्न को साहित्यिक गरिमा देता है, वही अपने क्षेत्र के जीवन को दुनिया के सामने अर्थपूर्ण रूप में प्रस्तुत करता है।

'पयस्विनी' मण्डलजी के समग्र साहित्य को समझने का महत्त्वपूर्ण आधार है। कथा और उपन्यास में जो जीवन पात्र, घटना और परिवेश के माध्यम से सामने आता है, यहाँ वही जीवन विचार, तर्क और सामाजिक विवेक के रूप में खुलता है।

मैथिली साहित्य की गरिमा लोकधरती से कटने में नहीं, उसमें गहराई तक उतरने में है। मिट्टी की गंध, श्रम की तपन, किसान की चिंता, स्त्री की चुप्पी और साधारण मनुष्य के स्वाभिमान को स्थान देने वाला साहित्य अपनी सीमाओं से बाहर निकलकर व्यापक मानवीय अर्थ ग्रहण करता है।

साहित्य की यात्रा गाँव से आरंभ हो सकती है, किंतु प्रामाणिक साहित्य गाँव में बंद नहीं रहता। वह मनुष्य के साझा अनुभव का रूप लेकर दुनिया की संपत्ति बन जाता है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 4

रक्त-संबंध नहीं, पाठ-संबंध देखें

'पयस्विनी' के 'अवतारवाद' लेख में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "हम सभी इक्कीसवीं शताब्दी की समर्थ चेतना हैं, न कि सोलहवीं शताब्दी की बाल चेतना।" (पृ. 8)

यह पंक्ति अवतारवाद के प्रश्न तक सीमित नहीं, मण्डलजी के समूचे विचार-संसार का आधार-बिंदु है। समर्थ चेतना किसी बात को आँख मूँदकर स्वीकार नहीं करती; वह उसे तर्क, अनुभव, समय और मनुष्य के विवेक की कसौटी पर परखती है।

इसी संदर्भ में कुछ लोगों की एक स्थायी आपत्ति विचारणीय है- बेटा पिता के साहित्य पर क्यों लिखे?

यह आपत्ति साहित्यिक आलोचना से अधिक संबंध को निर्णायक बना देती है। पुस्तक में क्या लिखा है, विचार का धरातल क्या है, उसका सामाजिक अर्थ क्या है, भाषा और रचना-चेतना कैसी है, ये प्रश्न पीछे चले जाते हैं; सामने केवल लिखने वाले का पारिवारिक संबंध खड़ा कर दिया जाता है।

साहित्य पैतृक खेत नहीं है, जिसे जोतने का अधिकार वंश-परंपरा से तय हो। वह विचार की सार्वजनिक भूमि है। वहाँ प्रवेश का आधार संबंध नहीं,

अध्ययन, ईमानदारी, तर्क, परिश्रम और आलोचनात्मक दृष्टि है।

यदि रक्त-संबंध अपने-आप आलोचना को संदिग्ध बना देता है, तो हीनभावना, ईर्ष्या, गुटबंदी और पूर्वाग्रह से लिखी आलोचना निष्पक्ष कैसे मानी जाए? अपरिचित होना निष्पक्षता का प्रमाण नहीं, जिस प्रकार पारिवारिक संबंध पक्षपात का अनिवार्य प्रमाण नहीं।

मूल प्रश्न लिखने वाले का परिचय नहीं, लिखी गई सामग्री की प्रामाणिकता है। कथन का आधार मूल पाठ में है या नहीं? तर्क, प्रमाण और कृति से संवाद है या नहीं? असहमति हो तो प्रतिआलोचना लिखें, प्रमाण और अपनी दृष्टि प्रस्तुत करें। संबंध के आधार पर किसी कार्य को खारिज कर देना आलोचना नहीं, वैचारिक पलायन है।

श्री जगदीश प्रसाद मण्डल का साहित्य लोकजीवन, श्रम, वंचित समाज और मनुष्य की गरिमा का साहित्य है। यदि उनका बेटा उस पर गंभीरता से लिखता है, तो उसे पहले बेटे के रूप में नहीं, पाठक, संपादक, शोधकर्ता और आलोचक के रूप में पढ़ा जाना चाहिए।

'पयस्विनी' सिखाती है कि समर्थ चेतना संबंध नहीं, विचार देखती है। आलोचना के न्यायालय में वंशावली नहीं, मूल पाठ, प्रमाण और दृष्टि देखी जानी चाहिए।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 5

एक आँख समाज पर, दूसरी कागज-कलम पर

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "आज के सामाजिक परिवेश में कैसी भाषा, कैसा साहित्य और कैसी संस्कृति आवश्यक है, इस पर विचार करना जरूरी है।" (पृ. 31)

यह पंक्ति मण्डलजी की साहित्य-दृष्टि का गहरा सूत्र है। साहित्य उनके लिए शब्दों का खेल, भावों की सजावट अथवा मंचीय वाहवाही की वस्तु नहीं है। उसकी परीक्षा समाज के बीच होती है। समाज की आवश्यकताओं, दुःख-संघर्ष, भाषा और बदलती जीवन-स्थितियों को देखे बिना साहित्य अपनी जिम्मेदारी पूरी नहीं कर सकता।

लेखक का काम केवल कागज पर वाक्य सजाना नहीं, जीवन की आवाज

सुनना भी है। गाँव का बदलता रूप, किसान की चिंता, स्त्री की चुप्पी, श्रम का अवमूल्यन, भाषा से बढ़ती दूरी, संस्कृति का टूटना और मनुष्य की गरिमा के प्रश्न उसके लेखन में प्रवेश करने चाहिए।

साहित्य समाज से कटकर शब्दों का महल खड़ा कर सकता है, किंतु उस महल में जीवन की साँस नहीं होगी। साहित्य में ऊष्मा तभी आती है, जब कागज-कलम समाज की धड़कन सुनें और शब्द मनुष्य के अनुभव से जुड़कर आएँ।

इसी अर्थ में लेखक की एक आँख समाज पर और दूसरी कागज-कलम पर रहनी चाहिए। समाज पर दृष्टि नहीं रहेगी, तो लेखन सूखा और निर्जीव हो जाएगा; कागज-कलम पर ध्यान नहीं रहेगा, तो संवेदना रचनात्मक आकार नहीं पा सकेगी। दोनों जुड़ेंगे, तभी विचार, अनुभव और अभिव्यक्ति का जीवित रूप बनेगा।

मण्डलजी समाज को दूर से नहीं, उसके भीतर रहकर देखते हैं। उनका साहित्य गाँव के जीवन, मिट्टी की गंध, श्रम की तपन और मनुष्य के स्वाभिमान से बना है। इसलिए वे कथा कहने के साथ पाठक को समाज देखने की दृष्टि भी देते हैं।

अपने समय के प्रश्नों से आँख मिलाने वाला साहित्य ही आने वाले समय के लिए अर्थपूर्ण बनता है। कालजयी साहित्य अपनी मिट्टी से जन्म लेता है, किंतु समय बीत जाने के बाद भी मनुष्य के अनुभव, संघर्ष और गरिमा के पक्ष में जीवित रहता है।

‘पयस्विनी’ से विचार-बिंदु 6

दर्पण साफ रहेगा, तभी समाज दिखाई देता रहेगा

‘पयस्विनी’ के प्रश्नोत्तर अंश में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- “साहित्य समाज का ऐसा दर्पण है, जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य के दर्शन होते हैं।” (पृ. 67)

यह पंक्ति मण्डलजी की साहित्य-दृष्टि का महत्त्वपूर्ण आधार है। साहित्य उनके लिए समाज का वह दर्पण है, जिसमें समय का चेहरा दिखाई देता है। उस दर्पण में अतीत की स्मृति, वर्तमान का सत्य और भविष्य की संभावना, तीनों उपस्थित रहते हैं।

केवल दर्पण होना पर्याप्त नहीं; उसका साफ रहना भी आवश्यक है। यदि साहित्य समाज का सजा-सँवरा चेहरा दिखाए और उसका टूटा हुआ चेहरा छिपा ले, तो वह अधूरा रहेगा। सुख और उत्सव के साथ भूख, अपमान, श्रम की लूट, स्त्री की पीड़ा, किसान की विवशता और हाशिये के समाज का संघर्ष दिखाना भी आवश्यक है।

इतिहास के पन्नों पर सत्ता, प्रतिष्ठा और बड़े नाम सहज स्थान पा लेते हैं; खेत में श्रम करने वाले, भूख से लड़ने वाले, स्त्रियाँ, किसान, मजदूर और पिछड़े-वंचित समाज की आवाजें कई बार बाहर रह जाती हैं। साहित्य की जिम्मेदारी इन अनदेखे जीवनानुभवों को समय के साक्ष्य के रूप में रचना में स्थान देना है।

जो बोल नहीं पाता, उसे भाषा देना; जो दुःख सहता है, उसके दुःख को सामाजिक अर्थ देना; जो श्रम करता है, उसके श्रम की गरिमा को पहचान देना-साहित्यिक दर्पण को साफ रखने का अर्थ इसी में निहित है।

साफ दर्पण केवल वर्तमान का चेहरा नहीं दिखाता। वह यह भी बताता है कि वर्तमान किस अतीत से बना है और उसके भीतर भविष्य की कौन-सी संभावनाएँ अथवा संकट छिपे हैं। इसी समय-बोध से साहित्य दस्तावेज भी बनता है और परिवर्तन की चेतना भी जगाता है।

'पयस्विनी' साहित्य पढ़ने के साथ उसके माध्यम से समाज को देखना भी सिखाती है। जो पाठक रचना में समाज के अनदेखे चेहरे को नहीं देख पाता, उसका पढ़ना अधूरा रह जाता है।

साहित्य का दर्पण तभी सार्थक है, जब वह मनुष्य की पीड़ा, संघर्ष, स्वाभिमान और भविष्य के मार्ग को एक साथ दिखाए। दर्पण साफ रहेगा, तभी समाज अपने पूर्ण रूप में दिखाई देगा।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 7

रचनाकार की समदृष्टि : प्रिय-अप्रिय से ऊपर

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "मैं उस अभिभावक की तरह का रचनाकार हूँ, जिसका एक बेटा आई.ए.एस. हो और दूसरा लँगड़ा-लूला; वह जिस प्रकार दोनों को समान दृष्टि से देखता है, उसी प्रकार मैं भी अपनी तमाम रचनाओं को देखता हूँ।" (पृ. 73)

यह पंक्ति मण्डलजी के रचनाकार-मन को खोलती है। वे अपनी रचनाओं को बाज़ार, चर्चा, लोकप्रियता अथवा तत्कालीन सफलता-असफलता के आधार पर अलग-अलग दर्जा नहीं देते। प्रत्येक रचना उनके सर्जनात्मक जीवन का अंग है।

जो रचना अधिक पढ़ी गई, वह भी अपनी; जो कम चर्चित रही, वह भी अपनी। जो सहज समझ में आती है, वह भी अपनी; जो कठिन धरातल पर खड़ी है, वह भी अपनी। मण्डलजी अपने रचना-संसार के भीतर लोकप्रियता के आधार पर भेद नहीं करते।

यह केवल आत्मीयता नहीं, समदृष्टि भी है। जो रचनाकार समाज के हाशिये के लोगों को किनारे नहीं करता, वह अपने साहित्य की कम चर्चित रचनाओं को भी कैसे किनारे कर सकता है? उनकी मानवीय और रचनात्मक दृष्टि एक-दूसरे से जुड़ी है।

जीवन की संपूर्णता में सुंदर-असुंदर, सबल-असहाय, सफल-असफल, प्रसन्न-पीड़ित और चर्चित-उपेक्षित सभी का स्थान है। मण्डलजी समाज में छूटे हुए मनुष्य और साहित्य में कम देखी गई रचना, दोनों का महत्त्व समझते हैं।

रचनाकार की समदृष्टि सर्जनात्मक ईमानदारी से जन्म लेती है। केवल प्रशंसा चाहने वाला लेखक अपनी रचना का चुना हुआ चेहरा दिखाता है। जीवन की सच्चाई से जुड़ा लेखक कमजोर, कठिन और कम चर्चित पक्षों से भी मुँह नहीं मोड़ता।

साहित्यिक स्नेह अंध-प्रशंसा नहीं, अपने संपूर्ण रचना-संसार की जिम्मेदारी है। रचनाकार अभिभावक की तरह प्रिय-अप्रिय, सफल-असफल और चर्चित-अचर्चित से ऊपर उठकर प्रत्येक सृजन की जीवन-ऊर्जा को देखता है।

मण्डलजी रचना को उपलब्धि की सीढ़ी नहीं, जीवन का विस्तार मानते हैं। प्रत्येक रचना अपने समय, अनुभव, चिंता और संघर्ष की संतान है। इसी समदृष्टि में रचनाकार की मानवीय गरिमा प्रकट होती है।

‘पयस्विनी’ से विचार-बिंदु 8

कथा नहीं, जीवन ने उन्हें पकड़ रखा है

‘पयस्विनी’ में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- “उपन्यास और कथा

लिखने का जो क्रम जीवन के आरंभ में मुझे पकड़ गया था, वह आज भी उसी तरह पकड़े हुआ है; इसलिए कौन अच्छा है और कौन बुरा, यह कैसे कहा जाए।” (पृ. 89)

यह पंक्ति मण्डलजी के कथाकार-स्वभाव का परिचय देती है। वे कथा और उपन्यास को केवल साहित्यिक विधाएँ नहीं मानते। कथा जीवन के भीतर से उठती है, उसके साथ चलती है और उसी के दबाव में अपना रूप ग्रहण करती है।

बहुत-से रचनाकार अभिव्यक्ति के लिए कोई विधा चुनते हैं, किंतु मण्डलजी के कथन से स्पष्ट है कि कथा केवल उनकी चुनी हुई विधा नहीं है। सर्जनात्मक जीवन के आरंभ में कथा ने उन्हें पकड़ लिया था और वह पकड़ आज भी बनी हुई है। इसका कारण है कि जीवन उन्हें निरंतर कथाएँ देता रहा है।

वास्तव में यह लोकजीवन की पकड़ है। गाँव, खेत, श्रम, बाढ़-सुखाड़, किसान की चिंता, मजदूर की थकान, स्त्री की मौन पीड़ा, जातीय दूरी, अभाव, अपमान और स्वाभिमान उनके कथा-संसार की बाहरी सजावट नहीं, उसका सक्रिय धरातल हैं। इन्हीं जीवन-स्थितियों से कथा का आकार बनता है।

मण्डलजी का कथा-संसार कल्पना की बनावटी चमक से नहीं, जीवन की तपन से बना है। उनके पात्र गढ़े हुए पुतले नहीं, समाज के बीच चलते-बोलते मनुष्य हैं। उनका दुःख केवल भावुकता नहीं, सामाजिक यथार्थ है; उनका संघर्ष कथानक की घटना मात्र नहीं, जीवन की निरंतर परीक्षा है।

“कौन अच्छा है और कौन बुरा” कथन में दंभ नहीं, विनम्रता और रचनात्मक ईमानदारी है। वे साहित्यिक कर्म को प्रचार, प्रसिद्धि अथवा उपलब्धियों की गिनती से नहीं, जीवन के साथ उसके निरंतर संबंध से देखते हैं।

कथा उनके लिए वह स्थान है, जहाँ समाज का अनकहा जीवन भाषा पाता है। इतिहास और मंच से बाहर रहे लोग, दबे हुए दुःख और उपेक्षित श्रम उनकी कथाओं में चेहरा, आवाज और मानवीय गरिमा पाते हैं।

प्रामाणिक कथाकार को कथा के लिए दूर नहीं जाना पड़ता। मनुष्य की हँसी, दुःख, संघर्ष, अपमान, संबंध और आशाएँ प्रतिदिन कथाकार के सामने कथा के रूप में खड़ी रहती हैं।

कथा नहीं, जीवन ने मण्डलजी को पकड़ रखा है। इसलिए उनकी कथा गढ़े हुए प्रसंग की तरह नहीं, भोगे और निरंतर देखे गए जीवनानुभव की तरह पाठक के भीतर उतरती है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 9

मन व्याकुल होता है, तब रचना निष्पक्ष अभिव्यक्ति की खोज में रहती है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "कविता लिखने के बाद अपना ही मन व्याकुल होने लगता है। यह व्याकुलता इसलिए होती है कि जो विचार रखना चाहता हूँ, उसे पूरी तरह रख नहीं पाता।" (पृ. 89)

यह पंक्ति मण्डलजी के भीतर के सजग रचनाकार को सामने लाती है। लिख लेने के बाद भी वे निश्चिंत नहीं होते। उनका मन इस प्रश्न से व्याकुल रहता है कि अनुभूत विचार शब्दों में उसी रूप में उतर सका या नहीं।

यह व्याकुलता कमजोरी नहीं, रचनात्मक ईमानदारी है। अपने लिखे शब्दों से तुरंत संतुष्ट न होने वाला रचनाकार अपनी रचना को बार-बार देखता, परखता और टटोलता है। उसके लिए लेखन अंतिम घोषणा नहीं, सटीक और निष्पक्ष अभिव्यक्ति की निरंतर खोज है।

मण्डलजी भाव लिखकर रुक नहीं जाते। वे उस दबे हुए जीवनानुभव की ओर जाते हैं, जो सहज रूप में सामने नहीं आ पाता। उसे शब्द देना और भीतर छिपी पीड़ा, सामाजिक प्रश्न तथा विचार को पाठक के सामने लाना शिल्प के साथ नैतिक जिम्मेदारी भी है।

जीवन का विस्तार बहुत बड़ा है और शब्दों की अपनी सीमा है। श्रमिक का पसीना, किसान की चिंता, स्त्री की दबाई हुई पीड़ा, जातीय अपमान, अभाव का अँधेरा और स्वाभिमान बचाने के संघर्ष सभी का अपना-अपना ताप है। लेखक को केवल घटना नहीं, उसके भीतर की मानवीय पीड़ा और सामाजिक अन्याय को भी पकड़ना पड़ता है।

इसलिए मण्डलजी अपनी रचना से पूछते हैं- क्या विचार पूर्ण रूप में आ सका? कथन निष्पक्ष रहा? जीवन का ताप शब्दों में उतर सका? रचना उस अनुभव के साथ न्याय कर सकी, जिसे अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया?

रचनाकार का यह असंतोष उसे आगे बढ़ाता है। पूर्ण संतोष रचना को

ठहरा सकता है, किंतु व्याकुल मन भाषा के लिए नया मार्ग खोजता है, विचार को नया आकार देता है और रचना को अधिक गहरे धरातल की ओर ले जाता है।

निष्पक्ष अभिव्यक्ति के लिए आत्मपरीक्षण, वैचारिक सजगता, आंतरिक बेचैनी और जीवन के प्रति ईमानदार जिम्मेदारी चाहिए। मण्डलजी के मन की यह व्याकुलता इसी रचनात्मक जिम्मेदारी का संकेत है।

मन व्याकुल होता है, तो रचना समाप्त नहीं होती; वह निष्पक्ष अभिव्यक्ति की खोज में आगे बढ़ती रहती है। मण्डलजी की यही बेचैनी उनके साहित्य को जीवित, सजग और मानवीय बनाती है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 10

शब्द जीवन का नक्शा है, केवल भाषा का रूप नहीं

मण्डलजी लिखते हैं- "एक-एक शब्द जीवन के एक-एक कार्य का नक्शा तैयार करने की शक्ति रखता है।" (पृ. 130)

यह पंक्ति मण्डलजी की भाषा-दृष्टि की गहराई प्रकट करती है। शब्द उनके लिए केवल ध्वनि, वर्तनी या व्याकरण की इकाई नहीं, जीवन के कार्य, अनुभव और संबंध का नक्शा है। उसमें श्रम की गंध, घर-आँगन का व्यवहार, सामाजिक मर्यादा, लोकाचार, स्मृति और बदलते समय की चाल समाई रहती है।

'कार्य का नक्शा' एक अर्थगर्भित प्रयोग है। नक्शा केवल रूप नहीं बताता; वह दिशा, स्थान और पारस्परिक संबंध भी स्पष्ट करता है। उसी प्रकार शब्द केवल किसी वस्तु या क्रिया का नाम नहीं बताता; वह समाज का उससे संबंध, कार्य का क्रम, उसमें सहभागी लोगों और उसके पीछे सक्रिय अनुभव तथा मूल्यों की ओर भी संकेत करता है।

मैथिली के शब्द-संसार को केवल संस्कृत से आए शब्दों का भंडार समझना उसकी ऐतिहासिक यात्रा और लोकजीवन की रचनात्मक शक्ति को छोटा करना होगा। भाषा समाज के जिए हुए अनुभव, सामूहिक स्मृति, श्रम, संबंध और बदलते जीवन के भीतर बनती है।

मैथिली के शब्दों में मिट्टी की गंध, नदी-पोखर का स्वभाव, वर्षा-धूप,

खेती-बाड़ी, पशुधन, ऋतु के अनुसार श्रम, नाते-रिश्ते, संस्कार, स्त्रियों के गीत, बच्चों के खेल, श्रमिक की पुकार और किसान की आशा समाई हुई है। प्रत्येक अनुभव अपने विशिष्ट शब्द, स्वर और अभिव्यक्ति के साथ भाषा में उपस्थित है।

इन शब्दों का अर्थ केवल शब्दकोश से नहीं समझा जा सकता। खेत, घर, गीत अथवा संघर्ष के क्षण में बोला गया शब्द अपने साथ सामाजिक प्रसंग, भावनात्मक ताप, व्यावहारिक उपयोग और ऐतिहासिक स्मृति लेकर चलता है। शब्द को समझना अर्थात् उसे जन्म देने वाली जीवन-परिस्थिति को समझना।

शब्द अतीत का निर्जीव अवशेष नहीं है। लोक उसे वर्तमान का अनुभव देता है; बदलता जीवन नए शब्द रचता है और पुराने शब्दों को नए अर्थ प्रदान करता है। जीवन शब्दों को बनाता है और शब्द जीवन को समझने का ढाँचा देते हैं। इसी जीवित संबंध में भाषा का विकास होता है।

मैथिली का संपूर्ण शब्द-संसार किसी एक स्रोत की देन नहीं है। उसमें देशज लोकजीवन, प्राचीन परंपरा, विभिन्न भाषिक संपर्क, पेशागत अनुभव और बदलते समय की अनेक परतें मिली हुई हैं। इसी बहुस्तरीयता में उसकी वास्तविक समृद्धि है।

भाषा-संकट तब बढ़ता है, जब हम शब्दों की शुद्धता पर बहस अधिक और उनके जीवन पर विचार कम करते हैं। मानक भाषा आवश्यक है, किंतु मानकीकरण के नाम पर क्षेत्रीय प्रयोग, लोक-शब्द और पेशागत शब्दावली मिटाना भाषा को निर्धन बनाता है। शब्दों को बचाना अर्थात् उनके जीवन-संदर्भ, लोक-प्रयोग और उन्हें बोलने वाले समाज को बचाना।

मण्डलजी शब्दों का चमत्कार दिखाने के लिए नहीं, जीवन के भीतर छिपे सत्य को उजागर करने के लिए भाषा का प्रयोग करते हैं। उनके शब्दों में गाँव की साँस, श्रम की तपन, अभाव की पीड़ा, संबंधों की ऊष्मा, स्वाभिमान और संघर्ष की आशा धड़कती है। शब्द उनके लिए सजावट नहीं, जीवन की उलझन खोलने का सशक्त साधन है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 11

केंद्र की कुर्सी और हाशिये की आवाज

'पयस्विनी' के 'वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशिये के समाज का संघर्ष'

लेख में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- “भाषा हो, साहित्य हो अथवा संस्कृति, वर्चस्ववादी समाज और हाशिये पर खड़े समाज के बीच हजारों कोस की दूरी बनी हुई है।” (पृ. 27)

यह पंक्ति केवल भाषा-साहित्य पर सामान्य टिप्पणी नहीं है। यह समाज के भीतर बनी उस गहरी दूरी को दिखाती है, जहाँ कुछ लोग स्वयं को केंद्र मान लेते हैं और बहुसंख्य लोकजीवन को हाशिये पर खड़ा कर देते हैं।

मण्डलजी यहाँ सीधा प्रश्न उठाते हैं कि साहित्य आखिर किसके लिए है? भाषा किसकी है? संस्कृति किसके जीवन से बनती है? यदि साहित्य केवल उन्हीं अनुभवों को स्थान देगा, जो पहले से केंद्र में बैठे लोगों के हैं, तो हाशिये के समाज का अनुभव कहाँ जाएगा?

वर्चस्व की सबसे बड़ी प्रवृत्ति यह होती है कि वह स्वयं को स्वाभाविक मान लेता है। उसे अपनी भाषा ही भाषा, अपनी संस्कृति ही संस्कृति, अपना अनुभव ही साहित्य और अपनी दृष्टि ही मानक दिखाई देने लगती है। जो लोग उसके बाहर हैं, उन्हें पिछड़ा, असभ्य, अमानक अथवा अप्रासंगिक कहकर किनारे कर दिया जाता है।

किंतु मण्डलजी की दृष्टि इसी किनारे कर दिए जाने के विरुद्ध खड़ी है। वे हाशिये को दया का विषय नहीं बनाते। वे उसे समाज का वास्तविक धरातल मानते हैं। वे जानते हैं कि खेत में श्रम करने वाले, गाँव में जीने वाले, अभाव से लड़ने वाले और अपमान के बावजूद अपनी गरिमा बचाने वाले लोगों के बिना कोई साहित्य पूर्ण नहीं हो सकता।

उनके साहित्य का मूल आग्रह यही है कि जिस जीवन को लगातार पीछे धकेला गया, उसे साहित्य के केंद्र में लाया जाए। जिस आवाज को दबाया गया, उसे सुना जाए। जो समाज के इतिहास में नामहीन रहा, उसे रचना के भीतर चेहरा, भाषा और आत्मा दी जाए।

यहाँ ‘पयस्विनी’ हमें केवल विचार नहीं देती, साहित्य की जिम्मेदारी भी समझाती है। यदि साहित्य सचमुच समाज का दर्पण है, तो वह दर्पण केवल साफ कमरे और सजे-सँवरे चेहरे नहीं दिखाएगा। उसे मिट्टी, पसीना, फटे हाथ, भूख, उपेक्षा, स्त्री की चुप्पी, किसान की चिंता और हाशिये का संघर्ष भी दिखाना होगा।

केंद्र की कुर्सी पर बैठकर हाशिये के जीवन पर निर्णय देना आसान है।

कठिन है हाशिये की आवाज को उसकी अपनी गरिमा के साथ सुनना। मण्डलजी का साहित्य यही कठिन काम करता है।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि भाषा, साहित्य और संस्कृति पर किसी का निजी अधिकार नहीं हो सकता। ये उस समाज की साझा संपत्ति हैं, जो जीता है, श्रम करता है, दुःख सहता है, प्रश्न करता है और अपने हिस्से का सम्मान माँगता है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 12

सत्ता नहीं, दबा-कुचला समाज मेरा आधार

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "समाज का वह दबा-कुचला वंचित वर्ग मेरा मुख्य आधार है, जिसके लिए मैंने लिखा भी है और आगे भी जो कुछ लिखूँगा, उसी के लिए लिखूँगा।" (पृ. 69)

यह पंक्ति मण्डलजी के रचनाकार-संकल्प की स्पष्ट घोषणा है। साक्षात्कार में जब उनके साहित्य के मूल आधार का प्रश्न उठता है, तो वे गोल-मोल उत्तर नहीं देते। वे साफ कहते हैं कि उनके साहित्य का आधार सत्ता, मंच, प्रतिष्ठा, संस्था, सुविधा-संपन्न समाज अथवा प्रशंसक-वर्ग नहीं, बल्कि दबा-कुचला वंचित समाज है।

ऐसा उत्तर देना आसान नहीं। बहुत-से रचनाकार अपने साहित्य को व्यापक, निरपेक्ष या सर्वमान्य कहकर अपनी पक्षधरता को अस्पष्ट रखने का प्रयास करते हैं। किंतु मण्डलजी सुरक्षित उत्तर नहीं चुनते। वे स्पष्ट करते हैं कि जिनका जीवन समाज के किनारे धकेल दिया गया, जिनकी आवाज दबाई गई, जिनके श्रम पर समाज टिका रहा, किंतु जिन्हें सम्मान से वंचित रखा गया, उनका लेखन उन्हीं के लिए है।

यह दया नहीं, पक्षधरता है। यह करुणा का प्रदर्शन नहीं, साहित्यिक संकल्प है। दबा-कुचला समाज उनके लिए केवल विषय नहीं, आधार है। विषय को दूर से देखा जा सकता है, किंतु आधार पर खड़ा होना पड़ता है। मण्डलजी उसी सामाजिक धरातल पर खड़े रचनाकार हैं।

मैथिली साहित्य का एक बड़ा प्रश्न यहीं से उठता है- साहित्य आखिर किसके लिए लिखा जा रहा है? मंच पर बैठे लोगों के लिए? संस्थाएँ चलाने वालों

के लिए? सम्मान बाँटने वालों के लिए? या उन लोगों के लिए, जो श्रम, अभाव, अपमान, जातिगत दूरी, बेरोजगारी और सामाजिक दबाव के बीच अपना जीवन आगे बढ़ाते हैं?

मण्डलजी का रचना-संसार इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर है। उनके साहित्य में घर-परिवार के संबंध हैं, खेत-मिट्टी से जुड़ा श्रम और पसीने की गंध है तथा भूख का कठोर यथार्थ और जीवन-संघर्ष के अनेक रूप हैं। वे स्त्री की पीड़ा और स्वाभिमान, किसान-मजदूर के संघर्ष तथा पिछड़े-वंचित समाज के उपेक्षित अनुभवों को साहित्य के भीतर स्थान देते हैं। इस प्रकार जिन लोगों और जिस जीवन को लंबे समय तक साहित्य के केंद्र से बाहर रखा गया, उन्हें वे अपनी रचना के केंद्र में लाते हैं।

इसलिए मण्डलजी के साहित्य को केवल 'ग्रामीण साहित्य' कहकर सीमित करना भूल होगी। यह समाज के वास्तविक आधार का साहित्य है। यह उन लोगों का साहित्य है, जो सभ्यता का भार उठाते हैं, किंतु सभ्यता के सम्मान में जिनका हिस्सा प्रायः छीन लिया जाता रहा है।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि निष्पक्ष रचनाकार अपना सामाजिक आधार नहीं छिपाता। वह यह नहीं सोचता कि अपने लेखन से किसे प्रसन्न करना है, किंतु यह अवश्य देखता है कि किसके जीवन-अनुभव को आवाज देनी है। मण्डलजी दबे-कुचले समाज को साहित्य के किनारे खड़ा नहीं करते, बल्कि उसे अपने साहित्य का आधार बनाते हैं।

सत्ता बदलती रहती है, मंच की चमक क्षणिक होती है और सम्मानपत्र पुराने पड़ जाते हैं। किंतु जो साहित्य वंचित समाज के जीवन और गरिमा के पक्ष में खड़ा होता है, उसका नैतिक प्रभाव लंबे समय तक जीवित रहता है। मण्डलजी ऐसे ही दीर्घजीवी साहित्यिक संकल्प के रचनाकार हैं।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 13

हाशिये पर नहीं, नई धारा को गति देने वाला

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "इसलिए मैं स्वयं को हाशिये पर पड़ा हुआ नहीं, नई धारा को गति देने वाला मानता हूँ। यह विचारधारा का प्रश्न है, हाशिये पर किए जाने का नहीं।" (पृ. 69)

यह पंक्ति मण्डलजी के वैचारिक आत्मविश्वास का अद्भुत उदाहरण है। साक्षात्कार में जब प्रश्न उठता है कि उन्हें साहित्य की मुख्यधारा से किनारे कर दिया गया, तो वे इसे अपनी व्यक्तिगत उपेक्षा के रूप में नहीं देखते। शिकायत, हीनभावना या आत्म-दया में पड़ने के बजाय वे स्पष्ट कहते हैं कि यह केवल उन्हें हाशिये पर किए जाने का प्रश्न नहीं, बल्कि दो भिन्न विचारधाराओं का प्रश्न है।

यह उत्तर तथाकथित मुख्यधारा के दंभ को सीधी चुनौती देता है। कोई धारा केवल स्वयं को मुख्यधारा कह देने से साहित्य की स्वाभाविक या निष्पक्ष धारा नहीं हो जाती। कई बार वह सत्ता, जातीय वर्चस्व, संस्थागत पहुँच, गुट, निजी परिचय और प्रचार के बल पर बनी धारा भी हो सकती है। निष्पक्ष धारा वहाँ बनती है, जहाँ जीवन के सत्य को निर्भयता से स्वीकार किया जाता है, श्रम की गरिमा को सम्मान मिलता है, दबाई गई आवाजों को स्थान दिया जाता है और रचनात्मक ईमानदारी को सर्वोपरि माना जाता है।

मण्डलजी स्वयं को हाशिये पर नहीं मानते, क्योंकि उनके लेखन का आधार कोई साहित्यिक गुट, संस्था या प्रचार-तंत्र नहीं, बल्कि व्यापक लोकजीवन है। उनका साहित्य लोकजीवन के गहरे धरातल पर खड़ा है। खेत-गाँव का जीवन, किसान-मजदूर का श्रम, स्त्रियों का संघर्ष तथा अभाव और अपमान से जूझते लोग समाज के किनारे पड़े विषय नहीं, बल्कि उसका वास्तविक जीवन हैं। जो साहित्य इस जीवन को केंद्र में लाता है, उसे हाशिये का कहना तथाकथित मुख्यधारा की दृष्टि का दोष है।

किनारे पर वह नहीं है, जो लोकजीवन लिखता है; किनारे पर वह है, जो लोकजीवन से कट गया है। किनारे पर वह नहीं है, जो वंचित समाज के पक्ष में खड़ा है; किनारे पर वह है, जो बहुसंख्य लोगों का जीवन देखने से बचता है। किनारे पर वह नहीं है, जो कठिन प्रश्न उठाता है; किनारे पर वह है, जो सुविधा के लिए चुप्पी साध लेता है।

मण्डलजी की 'नई धारा' का अर्थ इसी विचार से स्पष्ट होता है। नई धारा का अर्थ है नई दृष्टि, नए विषय और साहित्य के केंद्र का विस्तार। जिस जीवन को पहले बाहर रखा गया, वह साहित्य के भीतर आए। साहित्य प्रतिष्ठित लोगों के आँगन से आगे बढ़कर श्रम करने वाले लोगों की देहरी तक पहुँचे।

यह नई धारा तभी निष्पक्ष और सार्थक बनती है, जब साहित्य जातीय

सुविधा, संस्थागत चुप्पी और समूहगत प्रशंसा से ऊपर उठकर जीवन के पक्ष में खड़ा होता है। मण्डलजी का रचनाकार-स्वभाव इस धारा को गति देता है, क्योंकि वे साहित्य का मूल्यांकन सत्ता या स्वीकृति से नहीं, जीवन के सत्य से करते हैं।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि 'मुख्यधारा' शब्द से भ्रमित नहीं होना चाहिए। कोई धारा मुख्य कहलाने मात्र से निष्पक्ष नहीं हो जाती। धारा तभी अर्थपूर्ण होती है, जब वह समाज के दबे हुए जीवन को अपने साथ लेकर चलती है और उपेक्षित अनुभवों को साहित्यिक गरिमा देती है।

मण्डलजी हाशिये पर नहीं हैं। वे उस नई और निष्पक्ष साहित्यिक धारा को गति देने वाले रचनाकार हैं, जहाँ साहित्य का आधार सत्ता नहीं, समाज है; प्रतिष्ठा नहीं, जीवन है; गुट नहीं, मनुष्य की गरिमा है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 14

साहित्य को भक्त नहीं, निर्भीक पाठक चाहिए

मण्डलजी लिखते हैं- "भक्त और भगवान सांप्रदायिक भाषा है। व्यक्ति अपने कर्म से बड़ा या छोटा होता है; लेकिन किसी को पहले से ही बुरा मान लेना और उसके कर्म को भी उसी दृष्टि से देखना मैं अनुचित समझता हूँ।" (पृ. 80)

यह पंक्ति साहित्य के भीतर बनाए जाने वाले भक्त-भगवान के संबंध को अस्वीकार करती है। रचनाकार का सम्मान हो, उसके श्रम की स्वीकृति हो और श्रेष्ठ रचना को प्रतिष्ठा भी मिले, किंतु सम्मान का अर्थ अपना विवेक समर्पित कर देना नहीं है। साहित्यकार को ऐसे ऊँचे आसन पर बैठा देना, जहाँ उसकी प्रत्येक बात स्वतः सत्य मान ली जाए, साहित्यिक संस्कृति के स्वस्थ विकास में बाधा बनती है।

भक्त पहले मान लेता है, बाद में पढ़ता है। निर्भीक पाठक पहले पढ़ता है, समझता है, प्रश्न करता है और उसके बाद अपना मत बनाता है। भक्त के लिए रचनाकार का नाम प्रमाण बन जाता है, किंतु सजग पाठक के लिए रचना के भीतर का जीवन-सत्य, भाषा, संवेदना, विचार और रचनात्मक सामर्थ्य प्रमाण होते हैं। साहित्य को जयकार करने वाली भीड़ से अधिक ऐसे पाठक चाहिए, जो उसे ध्यान से पढ़ें और निष्पक्षता से परखें।

रचनाकार अपने कर्म से बड़ा या छोटा होता है। उसका बड़ा नाम,

पुरस्कार, पद, जाति, संस्था या साहित्यिक संबंध किसी कमजोर रचना को श्रेष्ठ नहीं बना सकते। उसी प्रकार नए या अपरिचित लेखक की अच्छी रचना केवल इसलिए छोटी नहीं हो सकती कि उसका नाम अभी चर्चित नहीं है। प्रत्येक रचना का मूल्यांकन उसकी अपनी रचनात्मक सामर्थ्य के आधार पर होना साहित्यिक न्याय की पहली शर्त है।

भक्तिभाव जब सीमा पार करता है, तब असहमति के लिए स्थान क्रमशः संकुचित होता जाता है। कमजोर रचना की कमियों पर चर्चा नहीं होती, भाषा की अशुद्धियाँ दोहराई जाती हैं और विचार की सीमाएँ प्रतिष्ठा की आड़ में छिपाई जाती हैं। धीरे-धीरे समीक्षा निष्पक्ष मूल्यांकन के स्थान पर प्रशंसा में बदल जाती है और प्रतिभा का स्थान परिचय, गुट या प्रतिष्ठा ले लेते हैं। ऐसे वातावरण में साहित्य बाहर से चमकता दिखाई दे सकता है, किंतु भीतर से उसकी आलोचनात्मक चेतना कमजोर पड़ती जाती है।

निर्भीक पाठक रचना से सीधे प्रश्न करता है- इसमें जीवन का कौन-सा सत्य अभिव्यक्त हुआ है? किसका स्वर सुनाई देता है और किसका अनुभव छूट गया है? भाषा विषय के अनुरूप है या केवल सजावट तक सीमित है? रचना पाठक की चेतना खोलती है या पहले से बनी धारणाओं को दोहराती है? ये प्रश्न विरोध के लिए नहीं, रचना की वास्तविक सामर्थ्य और सीमा, दोनों को पहचानने के लिए होते हैं।

निर्भीकता का अर्थ उद्दंडता नहीं है। आलोचना पाठ, तर्क और प्रमाण पर आधारित होनी चाहिए। रचनाकार का अपमान, व्यक्तिगत आक्षेप या गुटगत निंदा समीक्षा नहीं है। जो पाठक रचना के गुणों को सम्मान के साथ स्वीकार करता है और उसकी सीमाओं पर स्पष्ट बात कहता है, वही रचनाकार का सच्चा सहयोगी है। खोखली प्रशंसा कुछ समय के लिए संतोष दे सकती है, किंतु ईमानदार और तर्कपूर्ण असहमति लेखक को अपनी रचना पर फिर से विचार करने का अवसर देती है।

रचनाकार को भी ऐसे पाठक की आवश्यकता समझनी चाहिए। प्रशंसकों से घिरा लेखक धीरे-धीरे अपनी सीमाएँ देखना छोड़ सकता है। जब वह प्रश्न सुनता है, असहमति के कारण समझता है और अपनी रचना को पुनः परखता है, तब उसकी दृष्टि अधिक व्यापक बनती है। पाठक की स्वतंत्रता रचनाकार की

स्वतंत्रता का विरोध नहीं; वह स्वस्थ साहित्यिक संवाद और रचनात्मक विकास का आधार है।

समाज से जुड़ा साहित्य तभी जीवंत शक्ति बनेगा, जब समाज उसका भक्त नहीं, सजग सहभागी पाठक बने। जो पाठक प्रेम से पढ़ेगा, विवेक से परखेगा और निर्भीकता से बोलेगा, वही साहित्य को जीवित रखेगा। साहित्यकार को भगवान बनाकर पाठक से दूर न करें। रचना को जीवन के बीच लाएँ, पढ़ें, प्रश्न करें, असहमति रखें और उसका मूल्य रचनाकार के नाम से नहीं, उसके कर्म और रचनात्मक सामर्थ्य से तय करें।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 15

लोभ से मुक्त जीवन ही कलम को स्वतंत्र रखता है

मण्डलजी लिखते हैं- "लोभ मनुष्य को सुगति से हटाकर दुर्गति के मार्ग पर लगा देता है। इसलिए लोभ से बचते हुए अपने स्वतंत्र जीवन का निर्माण कीजिए, जिससे निष्पक्ष होकर समाज और साहित्य, दोनों की सेवा कर सकें।" (पृ. 98)

यह पंक्ति नए रचनाकार के लिए सामान्य नैतिक उपदेश नहीं, रचनात्मक स्वतंत्रता का व्यावहारिक सूत्र है। मण्डलजी लोभ को केवल धन की इच्छा तक सीमित नहीं रखते। पद, पुरस्कार, प्रसिद्धि, मंच, प्रशंसा, संस्थागत कृपा और प्रभावशाली लोगों की निकटता की इच्छा भी लोभ का रूप ले सकती है। जब इन सबकी चाह लेखन की दिशा निर्धारित करने लगती है, तब कलम की स्वतंत्रता धीरे-धीरे घटने लगती है।

लोभ का पहला प्रभाव लेखक की दृष्टि पर पड़ता है। वह सत्य देखते हुए भी सोचने लगता है कि यह बात कहने से कौन अप्रसन्न होगा, कौन-सा अवसर हाथ से निकल जाएगा या कौन-सी संस्था दूरी बना लेगी। परिणामतः कुछ बातें बढ़ाकर कही जाती हैं, कुछ अधूरी छोड़ दी जाती हैं और कुछ सत्य चुप्पी में दबा दिए जाते हैं। कलम चलती रहती है, किंतु उसकी दिशा भीतर का विवेक नहीं, बाहरी लाभ निर्धारित करने लगता है।

सम्मान या पुरस्कार स्वीकार करना अपने-आप में लोभ नहीं है। रचनाकार के श्रम को मान्यता मिलना अच्छा है और रचना का व्यापक पाठक-

वर्ग तक पहुँचना भी आवश्यक है। समस्या तब उत्पन्न होती है, जब मान्यता सृजन का परिणाम रहने के बजाय उसका लक्ष्य बन जाती है। तब लेखक जीवन के प्रश्नों से अधिक उन लोगों की रुचि समझने लगता है, जिनके हाथ में पुरस्कार, मंच या स्वीकृति का निर्णय है। ऐसी स्थिति में रचनाकार की दृष्टि समाज से हटकर लाभ के स्रोतों की ओर जाने लगती है।

स्वतंत्र जीवन के निर्माण का अर्थ गरीबी का महिमामंडन नहीं है। रचनाकार के भी परिवार, जीविका, स्वास्थ्य और सामाजिक दायित्व होते हैं। स्वतंत्रता का अर्थ अपनी आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के बीच विवेकपूर्ण सीमा बनाए रखना, श्रम से जीविका चलाना और इतना आत्मबल अर्जित करना है कि अनुचित लाभ के सामने 'नहीं' कहा जा सके। जिसका जीवन पूरी तरह दूसरों की कृपा पर निर्भर है, उसकी वैचारिक स्वतंत्रता निरंतर संकट में रहती है।

"निरविचारी" होने का आशय पक्षपात, लोभ और निजी लाभ की गणना से मुक्त होकर निष्पक्ष विचार करना है। समाज की सेवा तभी संभव है, जब लेखक कमजोर, उपेक्षित और हाशिये पर पड़े लोगों का सत्य बिना डरे कह सके। साहित्य की सेवा तभी संभव है, जब वह मित्र की कमजोर रचना को मित्रता के कारण श्रेष्ठ न कहे और विरोधी की अच्छी रचना को वैमनस्य के कारण अस्वीकार न करे। साहित्यिक न्याय अपना-पराया नहीं, रचना के गुण-दोष देखता है।

चूकि भूमंडलीकरण और डिजिटल प्रचार के समय में लोभ के रूप और भी सूक्ष्म हुए हैं। पाठक-संख्या, पसंद की संख्या, सामग्री साझा होने की मात्रा, दृश्यता और तत्काल चर्चा का दबाव रचनाकार को जल्दी-जल्दी लिखने के लिए प्रेरित कर सकता है। किंतु लोकप्रियता और साहित्यिक मूल्य एक ही वस्तु नहीं हैं। जो सामग्री एक दिन में हजारों लोगों तक पहुँचती है, यह आवश्यक नहीं कि वह दीर्घकाल तक लोगों की चेतना में भी जीवित रहे। साहित्य का स्थायी मूल्य तत्काल प्रतिक्रिया से नहीं, उसके जीवन-सत्य, मानवीय संवेदना और रचनात्मक सामर्थ्य से बनता है।

साहित्यिक संस्थाओं का भी दायित्व है कि वे लेखक को लोभ और निर्भरता के जाल में न धकेलें। अवसरों के स्पष्ट नियम हों, रचनाओं का मूल्यांकन

उनके गुण और साहित्यिक कसौटियों के आधार पर हो तथा पुरस्कार या मंच व्यक्तिगत निष्ठा का साधन न बनें। पाठक भी प्रसिद्धि की चमक के बजाय रचना के भीतर के श्रम, सत्य और मानवीय मूल्य को महत्त्व दें, तभी स्वतंत्र लेखन का स्वस्थ वातावरण बनेगा।

लोभ से मुक्त जीवन ही कलम को स्वतंत्र रखता है। जिसकी इच्छाएँ उसके विवेक पर शासन नहीं करतीं, वही सत्य के पक्ष में निर्भीकता से खड़ा रह सकता है। स्वतंत्र जीवन, निष्पक्ष विचार और लोकहित से जुड़ा सृजन, ये तीनों मिलकर साहित्य-सेवा को नैतिक शक्ति देते हैं। कलम की वास्तविक प्रतिष्ठा इसी में है कि वह लाभ के सामने न झुके और सत्य, न्याय तथा मनुष्यता के साथ चले।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 16

सम्मानपत्र से साहित्य का दायित्व पूरा नहीं होता

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "अपनी भाषा, अपने साहित्य और संस्कृति को परिमार्जित करते हुए हम और आप ही उन्हें अगली पीढ़ी तक पहुँचाएँगे।" (पृ. 28)

यह पंक्ति साहित्यिक दायित्व का गहरा अर्थ खोलती है। भाषा, साहित्य और संस्कृति को अगली पीढ़ी तक पहुँचाना केवल लेखक का काम नहीं है। यह पाठक, आलोचक, संपादक, प्रकाशक, संस्था और समाज, सभी की साझा जिम्मेदारी है। सम्मान तभी सार्थक होता है, जब वह दायित्व में बदलता है।

सम्मान देना गलत नहीं है। सम्मान आवश्यक भी है। किंतु यदि सम्मान कागज, माला, मंच और औपचारिक घोषणा तक सीमित रह जाए, तो साहित्य का वास्तविक काम अधूरा रह जाता है। किसी लेखक को सम्मानित करना और उसके साहित्य को पढ़ना, पढ़ाना, समझना, उस पर चर्चा करना तथा पाठकों तक पहुँचाना, दोनों अलग बातें हैं।

यदि कोई संस्था अच्छे साहित्य को प्रोत्साहित करने की बात करती है, तो उसका दायित्व सम्मानपत्र देने तक सीमित नहीं होता। उसे पाठ-चर्चाएँ करनी होंगी, गोष्ठियाँ आयोजित करनी होंगी, आलोचनात्मक लेखन को बढ़ावा देना होगा और नए पाठक तैयार करने होंगे। विद्यालय, महाविद्यालय, पुस्तकालय

और सामाजिक माध्यमों तक साहित्य का जीवंत संवाद पहुँचाना भी संस्थाओं की जिम्मेदारी है।

समस्या तब गंभीर हो जाती है, जब साहित्यिक संस्थाएँ भी जाति, खेमा, परिचय, सुविधा और प्रतिष्ठा के दबाव में अपना दायित्व भूल जाती हैं। तब सम्मान साहित्यिक मूल्यांकन नहीं रह जाता, सामाजिक औपचारिकता बन जाता है। जीवंत साहित्य के स्थान पर कागज का प्रमाण बचा रह जाता है।

मण्डलजी का साहित्य केवल सम्मान की वस्तु नहीं, अध्ययन का विषय भी है। वह समाज के छूटे हुए जीवन, श्रम, शोषण, असमानता, स्त्री, किसान, मजदूर, पिछड़े-वंचित लोगों और हाशिये के संघर्ष को साहित्य के केंद्र में लाता है। ऐसे साहित्य का सम्मान तभी पूर्ण होगा, जब संस्था उसके प्रश्नों को समाज के बीच ले जाएगी।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि भाषा, साहित्य और संस्कृति अगली पीढ़ी तक अपने-आप नहीं पहुँचते। उन्हें पहुँचाना पड़ता है। और जो संस्था यह काम नहीं करती, उसका सम्मान अधूरा रह जाता है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 17

रचना का मूल्य प्रचार में नहीं, जीवन-दिशा में है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "प्रचार कम हो या अधिक, मूल प्रश्न यह है कि हमारी रचना से कितने लोगों को जीवन की दिशा मिली।" (पृ. 73)

यह पंक्ति मण्डलजी के रचनाकार-स्वभाव का अत्यंत महत्त्वपूर्ण परिचय देती है। वे साहित्य का मूल्य प्रचार, पुरस्कार, चर्चा, बिक्री, मंचीय प्रतिष्ठा या संस्थागत घोषणाओं से नहीं मापते। उनके लिए रचना की वास्तविक कसौटी यह है कि उसने पाठक के भीतर कितनी चेतना जगाई, कितना नैतिक साहस दिया और जीवन को देखने की कितनी दिशा दी।

साहित्य के संसार में प्रायः प्रचार को उपलब्धि समझ लिया जाता है। किस पुस्तक की कितनी चर्चा हुई, किस लेखक को कितने सम्मान मिले, किस नाम की कितने मंचों पर चर्चा हुई, इन सबकी गणना होती है। किंतु मण्डलजी इस बाहरी गिनती से आगे बढ़कर पूछते हैं कि रचना मनुष्य के जीवन में क्या बदल

सकी?

यह प्रश्न सरल नहीं है। रचना तब जीवन-दिशा देती है, जब वह पाठक को आनंद से आगे बढ़कर दृष्टि देती है, उसके भीतर प्रश्न जगाती है और उसे अपने समय, समाज, अन्याय, श्रम, भाषा, संस्कृति तथा मनुष्य की गरिमा के संबंध में नए ढंग से सोचने की प्रेरणा देती है।

मण्डलजी के साहित्य की वास्तविक शक्ति यही है कि वह प्रचार की चमक से हटकर जीवन के कठोर धरातल पर खड़ा दिखाई देता है। वह पाठक को सुरक्षित भावुकता नहीं देता; उसे जीवन के कठिन सत्य से मिलाता है। किसान का कष्ट, स्त्री की पीड़ा, मजदूर का श्रम, पिछड़े-वंचित समाज का अपमान, अभाव, दहेज, शिक्षा-व्यय, सामाजिक दबाव और मनुष्य का आत्मसम्मान, ये सभी उनके साहित्य के भीतर जीवन-दिशा के प्रश्न बनकर उठते हैं।

यदि रचना पाठक के लिए पढ़कर रख देने की वस्तु भर रह जाए, तो उसका प्रभाव सीमित रहता है। किंतु यदि रचना पाठक के जीवन में उतर जाए, उसकी सोच का हिस्सा बन जाए, उसके साहस को जगाए और उसकी सामाजिक दृष्टि खोले, तो वह प्रचार से कहीं बड़ा अर्थ ग्रहण करती है।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि साहित्य की वास्तविक सफलता तालियों की आवाज में नहीं, जीवन-दिशा में है। जो रचना मनुष्य को अपने जीवन का अर्थ समझने में सहायता देती है, समाज के अन्याय को पहचानने की दृष्टि देती है और गरिमा के साथ जीने का साहस जगाती है, वही रचना दीर्घकाल तक जीवित रहती है।

प्रचार समय का शोर है। जीवन-दिशा साहित्य का स्थायी प्रकाश है। मण्डलजी के रचनाकार-स्वभाव की विशेषता यही है कि वे शोर के नहीं, चेतना के साहित्यकार हैं।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 18

वर्तमान का कर्म ही भविष्य का साहित्य बनाता है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "हम वर्तमान में जीते हैं, इसलिए वर्तमान की जो क्रिया है, वही भविष्य का निर्माण करेगी।" (पृ. 101)

यह पंक्ति मण्डलजी के समय-बोध का गहरा सूत्र है। वे भविष्य का सपना देखते हैं, किंतु केवल कल्पना में नहीं। उनके लिए भविष्य कहीं दूर टँगी हुई इच्छा नहीं, वर्तमान के कर्म से बनने वाला सामाजिक यथार्थ है। जो आज करेंगे, वही कल की दिशा बनेगा।

कई बार साहित्य भविष्य के नाम पर केवल घोषणाओं में बदल जाता है। अतीत का गौरव और भविष्य का सपना भी कभी-कभी वर्तमान के कठिन प्रश्नों से बचने का साधन बन जाते हैं। किंतु मण्डलजी वर्तमान में जीने वाले रचनाकार हैं। वे अपने समय के समाज, भाषा, संस्कृति, शोषण, अभाव, संघर्ष और मनुष्य की गरिमा के प्रश्नों से आँख नहीं चुराते।

वर्तमान को देखना आसान नहीं है। वर्तमान में असुविधाएँ हैं, प्रश्न हैं, दोष हैं, दबाव हैं और अन्याय है। वर्तमान को देखने से समाज का चमकदार चेहरा टूटता है। इससे भी कठिन बात यह है कि वर्तमान के भीतर रचनाकार की अपनी जीवन-क्रिया भी शामिल होती है। अच्छी बात कह देना आसान है, सुंदर वाक्य लिख देना भी आसान है, किंतु उसी बात को कर्म, संबंध और व्यवहार में उतारना कठिन है। अनेक रचनाकार लेखन में प्रगतिशील विचार व्यक्त करते हैं, किंतु उनके व्यवहार में कभी-कभी वही पुराना वर्चस्व, सुविधा, जातिगत दूरी और आत्मकेंद्रितता दिखाई देती है। इसलिए वर्तमान का सत्य देखना केवल समाज का चेहरा देखना नहीं, अपना चेहरा देखना भी है। जो लेखक वर्तमान का सत्य नहीं देखेगा, वह भविष्य का प्रामाणिक साहित्य कैसे रचेगा?

मण्डलजी का साहित्य भविष्य को वर्तमान की जमीन पर खड़ा करता है। उनके लिए किसान की आज की चिंता, स्त्री की आज की पीड़ा, मजदूर का आज का श्रम, पिछड़े-वंचित समाज का आज का संघर्ष, मैथिली की आज की स्थिति और समाज के आज के विग्रह, सभी भविष्य के साहित्यिक आधार हैं।

वर्तमान की क्रिया भविष्य बनाती है। यदि आज साहित्य हाशिये की आवाज सुनेगा, तो भविष्य का साहित्य अधिक लोकतांत्रिक होगा। यदि आज भाषा लोकजीवन से जुड़ेगी, तो भविष्य की भाषा मजबूत होगी। यदि आज रचनाकार समाज की जड़ तक पहुँचेगा, तो भविष्य की आलोचना अधिक गहरी होगी।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि रचनाकार का काम केवल भविष्य की

कल्पना करना नहीं, वर्तमान की जिम्मेदारी उठाना है। वर्तमान में जो अन्याय है, उसे पहचानें। वर्तमान में जो जीवन संघर्षरत है, उसे आवाज दें। वर्तमान में जो समाज दिशाहीन है, उसे दिशा दिखाने वाला साहित्य रचें।

मण्डलजी भविष्य-दृष्टि के साहित्यकार इसलिए हैं कि वे वर्तमान से मुँह नहीं मोड़ते। उनका साहित्य कल का मार्ग आज की मिट्टी में खोजता है और वर्तमान के संघर्ष को भविष्य की दिशा में बदलता है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 19

जो माँगता नहीं, देता है, उसका हिसाब साहित्य रखता है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "उसमें मेरी कम-से-कम दो या तीन पुस्तकों का लोकार्पण होता है। मेरी प्रकाशित पुस्तकें सौ से अधिक हैं, जो कथा, उपन्यास, कविता, नाटक, एकांकी इत्यादि विधाओं में हैं।" (पृ. 103-104)

यह कथन मण्डलजी की साहित्यिक साधना का एक सादा, किंतु असाधारण चित्र सामने लाता है। इसमें दंभ, आत्म-प्रचार या स्वीकृति का आग्रह नहीं है। यह कर्म की सहज सूचना है। नियमित गोष्ठियाँ होती हैं, पुस्तकों का लोकार्पण होता है, अनेक विधाओं में लेखन होता है और रचना का क्रम निरंतर आगे बढ़ता है। इस सादगी के भीतर एक बड़ा साहित्यिक सत्य छिपा है- जो रचनाकार माँगता नहीं, देता है, उसका हिसाब साहित्य स्वयं रखता है।

मण्डलजी पुस्तक लिखकर चुप नहीं बैठ जाते। उनके लिए साहित्य केवल लिखकर और बोलकर छोड़ देने का विषय नहीं, करके दिखाने का कर्म है। एक बात है लिख-बोलकर अपना दायित्व पूरा मान लेना, दूसरी बात है साहित्य के लिए धरातल पर नियमित काम करना। मण्डलजी ने दूसरा मार्ग चुना है। 2008 ईस्वी से प्रत्येक त्रैमासिक 'सगर राति दीप जरय' आयोजन में वे संध्या छह बजे से प्रातः छह बजे तक पूरी रात जागकर रचनाकारों, पाठकों और साहित्य-प्रेमियों के साथ बैठते आए हैं। इस आयु में भी वे इस साहित्यिक कर्म का नियमित निर्वाह कर रहे हैं। और चूकि मैं भी इस आयोजन में भाग लेती हूँ तो यह मैंने देखा है कि ये सदैव अपने कहानी का पाठ सबसे अंत में करते हैं।

यह काम वे किसी पर उपकार करने के भाव से नहीं करते। उनके लिए

यह साहित्यिक कर्म और जीवन का स्वाभाविक हिस्सा है। रचना लिखना, पुस्तक प्रकाशित करना, उसे पाठकों तक पहुँचाना, चर्चा और संवाद का वातावरण बनाना, नए पाठक जोड़ना और नए रचनाकारों को अवसर देना, ये सभी उनके साहित्यिक जीवन के परस्पर जुड़े पक्ष हैं। इसलिए उनका कर्म केवल लेखन तक सीमित नहीं, साहित्य के सामाजिक विस्तार से भी जुड़ा है।

'सगर राति दीप जरय' केवल साहित्यिक आयोजन नहीं, पूर्णतः खुला मंच है। यहाँ प्रवेश का आधार जाति, वर्ग, गुट या व्यक्तिगत निकटता नहीं, रचना और साहित्य के प्रति रुचि है। जब अनेक मंच नियमों, गुटों, जाति और वर्ग की सीमाओं में बंद हो जाते हैं, तब यह मंच नए रचनाकारों, पाठकों और भिन्न विचारों के लोगों को एक साथ बैठने का अवसर देता है। यहाँ पुस्तकों का लोकार्पण होता है, रचनाएँ सुनी जाती हैं, विचार रखे जाते हैं और साहित्य का संबंध प्रत्यक्ष रूप से लोगों से जुड़ता है।

देने का संस्कार बहुत गहरा होता है। कोई प्रतिष्ठा माँगता है, कोई पुरस्कार, स्थान या स्वीकृति की अपेक्षा रखता है। किंतु कुछ रचनाकार चुपचाप अपना काम करते रहते हैं। वे अपने शब्द, समय, अनुभव, श्रम और साधन तक साहित्य को देते हैं। ऐसे रचनाकार का मूल्यांकन सामान्य मापदंडों से कतई नहीं किया जा सकता।

मण्डलजी किसी से यह नहीं कहते कि मुझे मानो। वे अपना काम करते रहते हैं। जो समाज छूट गया, उसे लिखते हैं। जो पात्र किनारे था, उसे केंद्र में लाते हैं। जो जीवन उपेक्षित था, उसे साहित्यिक गरिमा देते हैं। जो अनुभव मंच तक नहीं पहुँचता था, उसे कथा बनाकर पाठक के सामने खड़ा करते हैं।

यह देना केवल पुस्तक देना नहीं है। यह समाज को नई दृष्टि देना है। पाठक को लोकजीवन के भीतर ले जाना है। साहित्य की विषय-सीमा का विस्तार करना है। मैथिली भाषा को गाँव की मिट्टी, खेत के पसीने, स्त्री के अनकहे जीवनानुभव, किसान की चिंता और उपेक्षित लोगों के स्वाभिमान से जोड़ना है। ऐसे रचनाकार के साहित्य को पृष्ठों की संख्या से नहीं, जीवन के स्पर्श से मापा जाएगा।

कई बार समाज तात्कालिक चमक में उलझ जाता है। जो मंच पर अधिक दिखाई देता है, उसे बड़ा मान लेता है। जो ऊँची आवाज में बोलता है, उसे निर्भीक

समझ लेता है। जो संस्थाओं और प्रभावशाली लोगों से संबंध बनाता है, उसे प्रतिष्ठित मान लेता है। किंतु साहित्य का गहरा हिसाब अलग होता है। साहित्य देखता है कि कितनी निरंतरता से लिखा गया, किस जीवन को लिखा गया, किसे आवाज दी गई, किस समाज को केंद्र में लाया गया और पाठक के भीतर कौन-से प्रश्न जगाए गए।

मण्डलजी की रचनाएँ साधारण लोगों के जीवन को साहित्यिक गरिमा देती हैं। उनका साहित्य ऐसा दर्पण है, जिसमें श्रम की रेखाएँ, अभाव की चिंता, संबंधों की टूटन, जातीय चोट, स्त्री का संघर्ष, किसान का धैर्य और जीवन की लड़ाई साफ दिखाई देती है। वे पाठक को जीवन के वे पक्ष दिखाते हैं, जो स्थापित साहित्यिक छवियों में प्रायः किनारे रह जाते हैं।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि साहित्य का वास्तविक दान केवल शब्दों का दान नहीं है। वास्तविक दान है जीवन को पढ़ने की दृष्टि देना, समाज द्वारा किनारे किए गए लोगों को साहित्य में स्थान देना, भाषा को लोक के दुःख-सुख, श्रम, संघर्ष, स्मृति और स्वाभिमान को समेटकर अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य देना और साहित्यिक संवाद के लिए खुला धरातल तैयार करना। जब रचनाकार यह सब दे रहा हो, तब उसकी प्रतिष्ठा का हिसाब तात्कालिक प्रशंसा से नहीं, साहित्य की दीर्घ स्मृति से होता है।

जो माँगता नहीं, देता है, उसका हिसाब साहित्य रखता है। समय कभी-कभी देर करता है, किंतु दीर्घकालीन कर्म के प्रकाश को हमेशा छिपाकर नहीं रख सकता।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 20

संघर्ष जब साहित्य बनता है, समाज प्रेम का मार्ग पाता है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "जमीनी संघर्ष के बाद वैचारिक संघर्ष जोर पकड़ता है, इसलिए लिखना अनिवार्य हो गया।" (पृ. 75)

यह पंक्ति मण्डलजी की रचनात्मक यात्रा की मूल प्रेरणा को खोलती है। उनका लेखन सुख-सुविधा के कमरे में बैठकर बनाई गई कोई साहित्यिक योजना नहीं है। वह जीवन के लंबे संघर्ष से जन्मी वैचारिक अनिवार्यता है। पहले

मिट्टी, गाँव, खेत, समाज, अन्याय, दायित्व और मनुष्य के दुःख-सुख उनके अनुभव में उतरते रहे। समय के साथ ये अनुभव प्रश्न और विचार में बदलते गए और तब लेखन उनके लिए विकल्प नहीं, आवश्यक कर्म बन गया।

"जमीनी संघर्ष" यहाँ केवल जमीन की लड़ाई तक सीमित नहीं है। यह जीवन के वास्तविक धरातल पर खड़ा संघर्ष है। समाज में फैली असमानता, अन्याय, श्रम का अवमूल्यन, किसान और खेतिहर मजदूर की पीड़ा तथा पिछड़े लोगों के अपमान को मण्डलजी ने दूर से नहीं देखा। वे उस जीवन के बीच रहे, उसके संघर्ष में सहभागी बने और उसकी मिट्टी-पानी उनके अनुभव का हिस्सा बने। इन्हीं प्रत्यक्ष सामाजिक अनुभवों से उनकी दृष्टि बनी और विचार की दिशा निर्धारित हुई।

जब मनुष्य संघर्ष को बाहर से देखता है, तब वह उसका विवरण प्रस्तुत करता है। किंतु जब संघर्ष उसके अनुभव, चेतना और जीवन-दृष्टि में समा जाता है, तब वह साहित्य का रूप ग्रहण करता है। मण्डलजी का साहित्य इसी दूसरी कोटि का साहित्य है। वह देखे हुए जीवन, भोगे हुए समय, समझे हुए समाज और मनुष्य के पक्ष में खड़े रहने का साहित्य है। इसलिए उनकी रचना केवल कथा नहीं, अपने समय और समाज का प्रामाणिक साक्ष्य भी है।

किंतु संघर्ष का साहित्य होने का अर्थ कटुता या घृणा का साहित्य होना नहीं है। वास्तविक साहित्य केवल घाव नहीं गिनता; वह घाव के कारण समझता है और उसे भरने का सामाजिक मार्ग भी खोजता है। मण्डलजी अन्याय को सामने लाते हैं, व्यवस्था पर प्रश्न उठाते हैं और असमानता का विरोध करते हैं, किंतु मनुष्य के प्रति प्रेम, करुणा और सम्मान का भाव नहीं छोड़ते। उनका संघर्ष मनुष्य को मनुष्य के विरुद्ध नहीं, अन्याय और अमानवीयता के विरुद्ध खड़ा करता है।

प्रेम और भाईचारे का अर्थ अन्याय पर चुप रहना नहीं है। वास्तविक भाईचारा तब है, जब मनुष्य दूसरे के दुःख को अपना दुःख समझे, अपमानित व्यक्ति की गरिमा के पक्ष में खड़ा हो और असमान संबंधों को न्यायपूर्ण बनाने का प्रयास करे। न्याय की माँग प्रेम का विरोध नहीं, बल्कि प्रेम का सामाजिक विस्तार है। मण्डलजी के साहित्य में प्रेम भावुकता नहीं, मनुष्य के सम्मान और समानता के पक्ष में सक्रिय चेतना बनकर आता है।

जमीनी संघर्ष मनुष्य को कठोर बना सकता है। किंतु यदि उसके भीतर

करुणा, विवेक, प्रेम और न्याय की आकांक्षा जीवित रहे, तो वही कठोर अनुभव सामाजिक परिवर्तन की शक्ति बनता है। मण्डलजी के लेखन में यह शक्ति बार-बार दिखाई देती है। वे दोष पहचानते हैं, किंतु संबंध की संभावना नहीं छोड़ते। वे संघर्ष को घृणा की दिशा में नहीं, न्याय, समानता, प्रेम और सद्भावना की ओर मोड़ते हैं।

वैचारिक संघर्ष जमीनी संघर्ष से अलग नहीं, उसका अगला और अधिक दीर्घजीवी रूप है। खेत, समाज, सभा, आंदोलन और लोकसेवा में अर्जित अनुभव जब विचार में बदलते हैं, तब वे तत्कालीन घटनाओं की सीमा पार करके समाज के स्थायी प्रश्न बन जाते हैं। कागज पर उतरे विचार समय और स्थान की सीमा पार करके नई पीढ़ी तक पहुँचते हैं। इस अर्थ में मण्डलजी का लेखन उनके जमीनी संघर्ष का वैचारिक और मानवीय विस्तार है।

उनके साहित्य की गरिमा इसी में है कि वह जीवन के संघर्ष को रोष तक सीमित नहीं रखता। वह दुःख का वर्णन करके रुकता नहीं, बल्कि उसके पीछे के कारण, सामाजिक असमानता, मनुष्य के आत्मसम्मान और परिवर्तन की संभावनाओं को सामने लाता है। उनका साहित्य समाज को तोड़ने का नहीं, उसकी भीतरी उलझनों को सुलझाने का साहित्य है। वह प्रश्न उठाता है, किंतु प्रश्न के साथ न्यायपूर्ण भविष्य और मानवीय संबंधों का मार्ग भी खोजता है।

वास्तविक साहित्य वह है, जो मनुष्य का दुःख समझता है और उसे मनुष्य से जोड़ता है। वास्तविक साहित्यकार वह है, जो संघर्ष की कठोरता में भी प्रेम, भाईचारे और मानवीय गरिमा का पक्ष नहीं छोड़ता। मण्डलजी की रचनात्मक यात्रा बताती है कि जीवन के भीतर से फूटा लेखन अनुभव से तपता है, संघर्ष से धार पाता है और प्रेम से मानवीय बनता है। संघर्ष जब इस रूप में साहित्य बनता है, तब समाज घृणा का नहीं, प्रेम और भाईचारे का मार्ग पाता है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 21

लोग पढ़ते हैं, लेकिन बोलते क्यों नहीं?

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "बीच में बोलने का अवसर मिला। इसलिए अपने विचार को स्पष्ट करते हुए 'मिथिला जीवन' को आधार बनाकर अपनी बात रखूँगा।" (पृ. 47)

यह पंक्ति किसी कार्यक्रम में बोलने की मात्र औपचारिक सूचना नहीं है।

इसमें मण्डलजी का गहरा सामाजिक संस्कार बोलता है। अवसर मिले, तो चुप न रहें। अपने विचार को स्पष्ट करें। जीवन को आधार बनाएँ और समाज के बीच अपनी बात रखें।

आज के समय में सामाजिक माध्यम लोगों को पढ़ने की नई जगह दे रहे हैं। लोग पोस्ट पढ़ते हैं, विचार देखते हैं, सहमत होते हैं, असहमत भी होते हैं, किंतु कई बार सार्वजनिक रूप से कुछ नहीं बोलते। पढ़ा जाता है, लेकिन प्रतिक्रिया नहीं दी जाती। देखा जाता है, किंतु बात आगे नहीं बढ़ती।

यह चुप्पी साधारण नहीं है। यह केवल आलस्य की बात भी नहीं। इस चुप्पी के पीछे सामाजिक भय, संबंधों का दबाव, जातीय-सामाजिक समीकरण, निजी सुविधाएँ और कई बार अपना विचार सार्वजनिक करने के साहस की कमी भी होती है। लोग सोचते हैं- बोलेंगे तो कौन क्या समझेगा? कौन नाराज होगा? संबंधों पर क्या असर पड़ेगा? समाज के किस खेमे में हमें रख दिया जाएगा?

किंतु विचार पढ़कर चुप रहना धीरे-धीरे समाज की चेतना को कमजोर करता है। यदि गलत बात पर चुप्पी रहेगी, तो गलत बात अधिक निर्भीक होगी। यदि सही विचार पर चुप्पी रहेगी, तो सही विचार अकेला पड़ जाएगा। समाज के भीतर विचार तभी गतिशील रहता है, जब पाठक केवल पाठक नहीं रहता, सहभागी बनता है।

मण्डलजी का संकेत यहाँ महत्त्वपूर्ण हो उठता है। वे विचार को जीवन से जोड़ते हैं। यदि विचार की जड़ जीवन के अनुभव में है, तो उसका समाज के बीच पहुँचना आवश्यक है। जो बात समाज के जीवन से जुड़ी है, उसे पढ़कर अपने भीतर रख लेना पर्याप्त नहीं। उस पर चर्चा होनी चाहिए, प्रश्न उठने चाहिए और समर्थन अथवा असहमति व्यक्त होनी चाहिए।

सामाजिक माध्यम पर प्रतिक्रिया देना केवल “लाइक” करना नहीं है। प्रतिक्रिया देने का अर्थ अपनी चेतना की उपस्थिति दर्ज करना है। अर्थात् यह कहना कि हम पढ़ रहे हैं, सोच रहे हैं और समाज के प्रश्नों के प्रति निरपेक्ष नहीं हैं। यदि हम नहीं बोलेंगे, तो समाज का सार्वजनिक स्थान खाली नहीं रहेगा। उस पर उन आवाजों का कब्जा हो जाएगा, जो भ्रम, भय, दूरी और अंधविश्वास फैलाती हैं।

‘पयस्विनी’ हमें सिखाती है कि विचार का सम्मान केवल पढ़ने से नहीं

होता। विचार को समाज के बीच चलाना भी पड़ता है। पढ़ना चेतना का आरंभ है, किंतु बोलना चेतना की सामाजिक अभिव्यक्ति है।

लोग पढ़ रहे हैं, यह अच्छी बात है। किंतु पढ़कर चुप रह जाना समाज के लिए चिंता की बात है। क्योंकि केवल पढ़ने वाला पाठक समाज की दिशा नहीं बदलता। समाज की दिशा वह पाठक बदलता है, जो पढ़ता है, सोचता है और समय आने पर अपनी बात स्पष्ट रूप से कहता है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 22

लोक तक न पहुँचा साहित्य सीमित रह जाता है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "अभियान को सभी जिलों, सभी क्षेत्रों तक पहुँचाया जाए।" (पृ. 30)

यह पंक्ति साहित्य को एक सीमित दायरे से बाहर निकालकर समाज के बीच ले जाने का आग्रह करती है। साहित्य का काम केवल लिखा और छपा रह जाना नहीं है। उसे लोगों तक पहुँचना चाहिए। जो साहित्य जीवन के दुःख, संघर्ष, श्रम, अन्याय, असमानता और परिवर्तन की आकांक्षा से जन्म लेता है, उसका वास्तविक स्थान पाठक के मन और समाज के विचार में होता है।

पुस्तक छप गई, नाम दर्ज हो गया, कुछ लोगों ने पढ़ लिया- इतने भर से साहित्य की यात्रा पूरी नहीं होती। यदि वह विचार गाँव-घर, विद्यालय, महाविद्यालय, पुस्तकालय, गोष्ठी, पाठक-समूह और नई पीढ़ी के संवाद तक नहीं पहुँचेगा, तो उसका प्रभाव सीमित रह जाएगा। मण्डलजी यहाँ साहित्य को अभियान के रूप में देखते हैं। अभियान का अर्थ है निरंतर काम, विस्तार, संवाद और लोगों तक पहुँचने का प्रयास।

मण्डलजी के साहित्य की वास्तविक पहचान यही है कि वह उस जीवन को भाषा देता है, जिसे लंबे समय तक साहित्य की मुख्यधारा से दूर रखा गया। किसान का पसीना, मजदूर का श्रम, स्त्री की पीड़ा, पिछड़े-वंचित लोगों का अपमान, दबे-कुचले समाज का अभाव, भूख, शोषण और संघर्ष, ये सभी उनके साहित्य में केवल प्रसंग नहीं, केंद्रीय जीवन हैं। इसलिए ऐसे साहित्य को अलंकृत वाक्यों या प्रशंसा के भाषणों में नहीं, लोक-पाठ और सामाजिक चर्चा में उतरना चाहिए।

सभी जिलों और सभी क्षेत्रों तक अभियान पहुँचाने का अर्थ है कि साहित्य का पाठ सीमित समूहों तक बंद न रहे। उसके अंश पढ़े जाएँ, चर्चा हो, प्रश्न उठाए जाएँ, लेख लिखे जाएँ, नए पाठक तैयार किए जाएँ, विद्यार्थियों तक सामग्री पहुँचाई जाए और सामाजिक माध्यमों पर विचार-विस्तार किया जाए। जो साहित्य लोकजीवन से जन्मा है, उसे लोकचेतना और सामाजिक संवाद का हिस्सा बनना चाहिए।

इस मार्ग में चुप्पी, उपेक्षा, खेमा, जातीय आग्रह और सुविधा की दीवारें अवश्य मिलेंगी। कोई अनदेखी करेगा, कोई देर से स्वीकार करेगा और कोई पढ़े बिना ही राय बना लेगा। किंतु साहित्य का जीवित कर्म इन्हीं दीवारों को पार करना है। विचार जितनी बार पाठक तक पहुँचेगा, उसकी सामाजिक उपस्थिति उतनी ही मजबूत होगी।

मान्यता केवल दर्ज हो जाने से नहीं बनती। मान्यता तब बनती है, जब साहित्य लोगों के अनुभव का हिस्सा बनता है। कागज सूचना देगा, किंतु पाठक अर्थ देगा। मंच परिचय देगा, किंतु निरंतर पाठ उसे जीवन देगा। जो साहित्य समाज के भीतर उतरता है, वही समय के साथ टिकता है।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि साहित्य केवल रचना नहीं, लोक-जागरण की प्रक्रिया भी है। उसे सभी जिलों, सभी क्षेत्रों और सभी वर्गों तक पहुँचाना आवश्यक है। जो साहित्य लोकजीवन से उठा है, उसकी वास्तविक प्रतिष्ठा लोक के बीच ही बनेगी।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 23

मैथिली साहित्य का लोकतंत्रीकरण अभी प्रतीक्षा में है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में जो लोकतंत्रीकरण हुआ, वह मैथिली भाषा-साहित्य में नहीं हुआ है; वह अभी प्रतीक्षा में है।" (पृ. 29)

यह पंक्ति मैथिली साहित्य के वर्तमान और भविष्य, दोनों पर गंभीरता से विचार करने के लिए बाध्य करती है। मण्डलजी यहाँ केवल साहित्यिक टिप्पणी नहीं करते। वे मैथिली साहित्य के भीतर प्रतिनिधित्व का प्रश्न उठाते हैं। कौन बोल रहा है? किसे सुना जा रहा है? कौन साहित्य के केंद्र में है? और कौन अब भी

बाहर खड़ा है?

लोकतंत्रीकरण का अर्थ केवल यह नहीं कि भाषा सबको प्रिय हो। लोकतंत्रीकरण का अर्थ है कि साहित्य के द्वार समाज के सभी लोगों के लिए खुलें। किसान, मजदूर, स्त्री, दलित, पिछड़ा-वंचित समाज, बाढ़-सुखाड़ झेलते लोग, गाँव का साधारण मनुष्य, शहर का उपेक्षित जीवन, प्रवासी श्रमिक और नई पीढ़ी की बेचैनी- सभी के अनुभव साहित्य के केंद्र में आएँ। साहित्य तभी लोकतांत्रिक बनता है, जब वह समाज के बहुसंख्य जीवन को सम्मान के साथ अपनाता है।

कई बार भाषा से प्रेम होता है, किंतु भाषा किसके अनुभव को बोलेगी, इस प्रश्न पर चुप्पी फैल जाती है। साहित्य में सौंदर्य होता है, किंतु समाज की असमानता पर मौन छा जाता है। मंच सजता है, किंतु हाशिये की आवाज वहाँ स्थान नहीं पाती। यह स्थिति भाषा और समाज, दोनों के लिए हानिकारक है, क्योंकि भाषा तभी सचमुच जीवित रहती है, जब वह अपने लोगों के संपूर्ण जीवन, संघर्ष और अनुभव को आवाज दे सके।

यहाँ मण्डलजी की दृष्टि बिल्कुल स्पष्ट है। यदि मैथिली साहित्य को सच्चे अर्थों में व्यापक बनना है, तो उसे लोकजीवन के पूरे विस्तार को स्वीकार करना होगा। केवल सजी-सँवरी भाषा, प्रसिद्ध नाम, परंपरागत विषय और सीमित पाठक-वर्ग से साहित्य का लोकतंत्रीकरण नहीं होता। लोकतंत्रीकरण तब होता है, जब समाज के उपेक्षित जीवन, दबे हुए अनुभव और हाशिये की आवाजें साहित्य के भीतर सम्मान के साथ स्थान पाती हैं।

वास्तव में साहित्य का लोकतंत्रीकरण समाज के लोकतंत्रीकरण से अलग नहीं है। जिस समाज के बहुसंख्य लोगों का जीवन साहित्य में अनुपस्थित रहता है, उस समाज की आत्मा भी अधूरी रह जाती है। यदि भाषा में वे लोग नहीं बोलेंगे, जो धरती पर श्रम करते हैं, विपदा झेलते हैं, अपमान सहते हैं और संघर्ष करते हैं, तो भाषा समृद्ध होते हुए भी अपूर्ण रहेगी।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि मैथिली साहित्य का भविष्य उसके लोकतंत्रीकरण में है। साहित्य जितना अधिक लोगों के अनुभव से जुड़ेगा, उतना ही अधिक जीवित, शक्तिशाली और व्यापक बनेगा। जो साहित्य केवल गिने-चुने लोगों के अनुभव तक सीमित रहता है, वह धीरे-धीरे अपना पाठक-वर्ग खो देता

है। जो साहित्य समाज के भीतर उतरता है, उसका पाठक स्वयं समाज बनता है।

मैथिली साहित्य का लोकतंत्रीकरण अभी प्रतीक्षा में है। इस प्रतीक्षा को समाप्त कर इसे वास्तविकता में बदलने की जिम्मेदारी लेखक, पाठक, संपादक, आलोचक, प्रकाशक और सामाजिक माध्यमों पर सक्रिय प्रत्येक सजग व्यक्ति की है। भाषा तभी लोकतांत्रिक बनेगी, जब उसका साहित्य समाज की सभी आवाजों का घर बनेगा।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 24

मंच की मनमानी साहित्यिक अराजकता बनती है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "किंतु गोष्ठियों के बीच एकरूपता नहीं रही। कहीं ऐसा आयोजन हुआ कि शाम से भोर हो जाने के बाद भी कथाकार की कथा शेष रह गई, तो कहीं आधी रात में ही व्यवस्थापक ने चाय-पान समेट लिया।" (पृ. 41)

यह पंक्ति साहित्यिक आयोजनों के भीतर के एक कठोर सत्य को खोलती है। मंच बना, उद्देश्य अच्छा रहा, कथापाठ की परंपरा आरंभ हुई, रचनाकार जुटे, पुस्तकों का लोकार्पण हुआ, चर्चा हुई और नए-नए स्वरों ने प्रवेश किया। किंतु मण्डलजी इन उपलब्धियों के बीच यह भी देखते हैं कि गोष्ठियों के संचालन में एकरूपता नहीं रही। कहीं भोर तक आयोजन चला, फिर भी कथाकार की कथा शेष रह गई। कहीं आधी रात में ही व्यवस्थापक ने चाय-पान समेट लिया। यह आयोजन की सामान्य भूल मात्र नहीं, साहित्यिक व्यवहार में फैलती अराजकता है।

साहित्यिक मंच का वास्तविक अर्थ रचनाकार को सुनने का अवसर देना, पाठक को विचार की जगह देना और समाज को साहित्य से जोड़ना है। यदि मंच तक पहुँचने के बाद भी रचना सुनी न जाए, तो मंच का मूल उद्देश्य पूरा नहीं होता। यदि व्यवस्था व्यक्तिगत सुविधा के अनुसार चले, तो साहित्यिक लोकतंत्र कमजोर पड़ता है। मंच को खुला कह देने मात्र से वह खुला नहीं हो जाता। वह खुला तभी होता है, जब उसके नियम और व्यवहार सभी के लिए स्पष्ट, समान और निष्पक्ष हों।

गोष्ठी केवल कुर्सी, माइक, अध्यक्षता, स्वागत, चाय-पान और तस्वीरों

का आयोजन नहीं है। गोष्ठी साहित्य की जीवित प्रयोगशाला है। वहीं रचना अपनी पहली सामाजिक साँस लेती है। कथाकार कथा सुनाता है, पाठक सुनता है, समीक्षक प्रश्न करता है, असहमति उठती है और साहित्य के भीतर नई गति बनती है। ऐसी जगह अनुशासन नहीं रहेगा, तो रचनात्मकता बाधित होगी, संवाद टूटेगा और गोष्ठी औपचारिकता में सिमट जाएगी।

मण्डलजी के कथन में वास्तविक पीड़ा कथाकार के अधिकार की है। जो कथाकार दूर से आया, पूरी रात बैठा रहा और अपनी रचना लेकर उपस्थित हुआ, उसकी कथा यदि सुनाई ही न जा सके, तो यह केवल उसकी व्यक्तिगत निराशा नहीं है। यह मंच की व्यवस्था और साहित्यिक न्याय का प्रश्न है। साहित्यिक समाज की कसौटी यहीं दिखाई देती है कि वह केवल प्रसिद्ध नामों को सुनता है या नए, अल्पपरिचित, शांत और दूर से आए रचनाकारों को भी उचित समय देता है।

दूसरी ओर, आधी रात में चाय-पान समेट लेना भी साधारण बात नहीं है। यह संकेत है कि आयोजन के भीतर साहित्यिक धैर्य पर सुविधा और थकान हावी हो गई। जब व्यवस्थापक मनमानी करने लगता है, तब मंच रचनाकार के बजाय व्यवस्थापक के नियंत्रण में जाने लगता है। साहित्य पीछे छूट जाता है और आयोजन का बाहरी ढाँचा आगे आ जाता है।

यहाँ अराजकता शोर से नहीं, असमान व्यवहार से बनती है। किसे पहले पढ़ाया जाए? किसे रोका जाए? किसे समय मिले? किसे टाल दिया जाए? किसकी पुस्तक उठाई जाए? किसकी रचना पर टिप्पणी हो? यदि इन सबके लिए स्पष्ट पद्धति नहीं होगी, तो गोष्ठी धीरे-धीरे गुट, परिचय, प्रभाव और मनमानी का शिकार हो जाएगी।

इसलिए साहित्यिक मंच के खुलेपन के साथ स्पष्ट व्यवस्था भी आवश्यक है। समय की मर्यादा हो, रचनापाठ का क्रम स्पष्ट हो, कथाकार के अधिकार का सम्मान हो, समीक्षा की गरिमा बनी रहे और लोकार्पण में सादगी हो। सबसे अधिक यह भाव आवश्यक है कि मंच किसी की निजी जागीर नहीं, साहित्यिक संवाद की साझा जगह है।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि मंच का महत्त्व तभी है, जब वह रचना को केंद्र में रखे। यदि मंच पर रचनाकार की आवाज दब जाए और व्यवस्था की मनमानी बनी रहे, तो वह मंच साहित्यिक अराजकता की जगह बन सकता है।

गोष्ठी तभी जीवित रहेगी, जब उसके भीतर साहित्य, संवाद, समीक्षा और सभी सहभागियों को समान अवसर मिले।

मंच की मनमानी साहित्यिक अराजकता बनती है। व्यवस्था स्पष्ट रहेगी, तभी मंच सृजन और संवाद की साझा जगह बनेगा। व्यवस्था मनमानी से चलेगी, तो मंच धीरे-धीरे साहित्य के बजाय गुट और प्रभाव का केंद्र बन जाएगा।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 25

सत्ता की निकटता जब कसौटी बनती है, नई प्रतिभा किनारे हो जाती है

मण्डलजी लिखते हैं-

"जो साहित्यकार सत्ता से जुड़े रहे हैं, उनकी विचारधारा और व्यवहार ऐसे रहे कि नए और पिछड़े परिवारों से आने वाले साहित्यकारों के साथ जैसा व्यवहार होना चाहिए था, वैसा उन्होंने नहीं किया। इससे साहित्यकारों के बीच बड़ी दूरी बनती चली गई।" (पृ. 99)

यह पंक्ति साहित्य के भीतर सक्रिय सत्ता-संबंधों पर गंभीर प्रश्न उठाती है। साहित्यिक सत्ता केवल सरकार या राजनीतिक पद तक सीमित नहीं होती। पत्र-पत्रिकाओं का संपादन, प्रकाशन, पुरस्कार-निर्णय, आयोजन, पाठ्यक्रम, संस्था और मंच पर अवसर देने का अधिकार भी सत्ता के रूप हैं। जिनके पास ये अधिकार हैं, उनका व्यवहार साहित्यिक वातावरण की दिशा निर्धारित करता है।

सत्ता के निकट रहना अपने-आप में दोष नहीं है। साहित्यकार संस्था, सरकार या सार्वजनिक मंच से जुड़कर समाजोपयोगी कार्य कर सकता है। समस्या तब होती है, जब निकटता योग्यता की कसौटी बन जाए। रचना पढ़ने से पहले लेखक का परिचय देखा जाए, विचार से पहले संबंध जाँचे जाएँ और अवसर का निर्णय प्रतिभा से नहीं, निष्ठा से हो, तब साहित्यिक न्याय कमजोर पड़ने लगता है।

नए और पिछड़े परिवारों से आने वाले लेखकों के सामने पहले से ही अनेक बाधाएँ होती हैं। उनके पास पुस्तकें खरीदने के साधन कम हो सकते हैं, बड़े नगरों के आयोजनों तक पहुँचना कठिन हो सकता है और प्रभावशाली लोगों से परिचय भी नहीं होता। यदि साहित्यिक संस्थाएँ भी उन्हें अपनाने के बजाय दूरी बनाएँ, तो उनकी प्रतिभा के सामने आने का अवसर और कम हो जाता है।

इस उपेक्षा का प्रभाव केवल एक लेखक तक सीमित नहीं रहता। धीरे-धीरे नए रचनाकारों के भीतर यह धारणा बनने लगती है कि श्रेष्ठ लेखन से अधिक आवश्यक किसी गुट या प्रभावशाली व्यक्ति के निकट रहना है। कोई निराश होकर लिखना छोड़ देता है, कोई स्वीकृति के लोभ में अपना स्वतंत्र स्वर बदल लेता है और कोई साहित्यिक समाज से पूरी तरह दूरी बना लेता है। इसी से मण्डलजी द्वारा कही गई "बड़ी दूरी" बनती है।

ऐसी दूरी से साहित्य का अपना नुकसान होता है। समाज के नए अनुभव, नई भाषा और नए प्रश्न साहित्य तक नहीं पहुँच पाते। साहित्य गिने-चुने परिवारों, क्षेत्रों और विचारों के दायरे में बंद हो जाता है। जो जीवन पहले से हाशिये पर है, उसकी अभिव्यक्ति साहित्यिक मंच पर भी हाशिये में रह जाती है।

साहित्यिक संस्थाओं को अवसर देने की प्रक्रिया स्पष्ट रखनी चाहिए। रचना को साहित्यिक कसौटियों के आधार पर पढ़ा जाए, आमंत्रण का दायरा विस्तृत हो, नए लेखकों के लिए खुले मंच बनें और निर्णय लेने वाले लोग समय-समय पर बदलते रहें। असहमति या अपरिचय को अयोग्यता न माना जाए। जिसकी रचना कमजोर है, उसे कारण सहित प्रतिक्रिया मिले; जिसकी रचना समर्थ है, उसे परिचय के अभाव में रोका न जाए।

वरिष्ठ साहित्यकार का दायित्व दरबार बनाना नहीं, सेतु बनाना है। वह अपने अनुभव से नए लेखकों को भाषा, अध्ययन और रचना-प्रक्रिया में सहायता दे सकता है। नई प्रतिभा के आने से अपना स्थान घट जाएगा, यह भय साहित्यिक असुरक्षा है। सच्चा वरिष्ठ वही है, जो साहित्य की यात्रा आगे बढ़ती रहे, इसके लिए नई पीढ़ी तैयार करता है।

सत्ता की निकटता जब कसौटी बनती है, नई प्रतिभा किनारे हो जाती है। साहित्य की कसौटी संबंध नहीं, रचना हो; निष्ठा नहीं, सृजनात्मक ईमानदारी हो। अवसर के द्वार सभी के लिए खुले रहें और मूल्यांकन न्यायपूर्ण हो, तभी साहित्यकारों के बीच की दूरी घटेगी और साहित्य समाज के व्यापक अनुभवों का प्रतिनिधि बनेगा।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 26

मोबाइल युग में साहित्य की परीक्षा

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "आज जो मोबाइल युग आ गया है, उसमें हमारे यहाँ नाट्य साहित्य रहेगा या पाठ्य साहित्य बनेगा, यह प्रश्न तो है ही।" (पृ. 89)

यह पंक्ति मण्डलजी के सजग समय-बोध का प्रमाण है। वे केवल अतीत, परंपरा और लोकजीवन पर नहीं सोचते; बदलते माध्यम, बदलते पाठक और साहित्य के बदलते रूप पर भी विचार करते हैं। मोबाइल युग उनके लिए केवल सुविधा नहीं, साहित्य के सामने खड़ा एक नया प्रश्न भी है।

समय बदलता है, तो पढ़ने, सुनने और देखने के ढंग भी बदलते हैं। मंच बदलता है, पाठक का धैर्य बदलता है और शब्द की यात्रा भी नई राह पकड़ती है। जो साहित्य पहले पुस्तक के पृष्ठों, गोष्ठी के मंच, रंगमंच या सामूहिक पाठ के माध्यम से पाठक तक पहुँचता था, वह अब मोबाइल की स्क्रीन पर भी पहुँच रहा है।

किंतु माध्यम बदलने से साहित्य की जिम्मेदारी समाप्त नहीं होती। बल्कि उसकी परीक्षा और कठिन हो जाती है। मोबाइल युग में सूचना और शोर अधिक है, किंतु ध्यान से पढ़ने का समय कम। प्रतिक्रिया तेज है, किंतु गहरे विचार का अवसर घटता है। ऐसे समय में साहित्य को अपनी गंभीरता, गरिमा और सामाजिक अर्थ बचाते हुए पाठक तक पहुँचना होगा।

मण्डलजी का प्रश्न केवल नाट्य और पाठ्य साहित्य के रूप तक सीमित नहीं है। वास्तविक प्रश्न यह है कि बदलते समय में साहित्य अपने जीवन-संबंध को कैसे बचाएगा। मंच बदल गया, तो अभिव्यक्ति का रूप कैसे बदलेगा? पाठक की आदत बदल गई, तो साहित्य उसके पास किस मार्ग से पहुँचेगा?

मोबाइल और सामाजिक माध्यम साहित्य के लिए चुनौती भी हैं और अवसर भी। चुनौती यह है कि रचना हल्की टिप्पणी, तत्काल प्रतिक्रिया और क्षणिक शोर में खो सकती है। अवसर यह है कि एक पंक्ति, एक अंश या एक विचार पाठक के भीतर पूरी पुस्तक पढ़ने की जिज्ञासा जगा सकता है।

जीवन से जुड़ा साहित्य माध्यम बदलने से अप्रासंगिक नहीं हो जाता।

उसकी प्रस्तुति बदल सकती है, पहुँचने के साधन बदल सकते हैं, किंतु उसका मूल दायित्व वही रहता है। सामाजिक माध्यम साहित्य का विकल्प नहीं, साहित्य तक पहुँचने का नया मार्ग बन सकते हैं।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि साहित्य को बदलते समय से डरना नहीं, उसका स्वभाव समझना चाहिए। पुस्तक, मंच, पाठ, मोबाइल और फेसबुक, सभी की अपनी भूमिका है। किंतु मूल कसौटी एक ही है- साहित्य मनुष्य के जीवन, सामाजिक संघर्ष, भाषा, संस्कृति और विवेक के पक्ष में कितनी ईमानदारी से खड़ा है?

मोबाइल युग में साहित्य की वास्तविक परीक्षा यहीं है। जो साहित्य डिजिटल परिवेश के स्वभाव और पाठकीय परिवर्तन को समझे बिना केवल पुराने रूप पर अड़ा रहेगा, वह धीरे-धीरे पाठक से दूर हो सकता है। किंतु जो अपनी वैचारिक गहराई, भाषिक गरिमा और रचनात्मक गुणवत्ता को सुरक्षित रखते हुए नए माध्यमों की संभावनाओं को अपनाएगा, वह नए पाठकों तक पहुँचकर उनके भीतर विचार और संवाद के नए द्वार खोल सकता है।

माध्यम बदलते हैं, किंतु साहित्य का सामाजिक दायित्व नहीं बदलता। मण्डलजी का प्रश्न हमें सचेत करता है कि नए समय में साहित्य के रूप, पहुँच और पाठक पर विचार करना भी साहित्यिक जिम्मेदारी का हिस्सा है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 27

प्रतिष्ठा दी नहीं जाती, कर्म से बनती है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "कथा-गोष्ठी से कथा-धारा में गति आई, नए-नए रचनाकारों का गोष्ठी में प्रवेश होता रहा और गोष्ठी आगे बढ़ती रही।" (पृ. 41)

यह पंक्ति केवल किसी कथा-गोष्ठी का इतिहास नहीं बताती, बल्कि साहित्य में प्रतिष्ठा बनने की वास्तविक प्रक्रिया की ओर भी संकेत करती है। प्रतिष्ठा किसी के देने से नहीं मिलती। वह घोषणा, प्रशंसा, मंचीय अभिनंदन अथवा संस्थागत मुहर की वस्तु नहीं है। प्रतिष्ठा दीर्घ कर्म, निरंतर उपस्थिति, पाठक-संबंध, रचना के जीवन-सत्य और साहित्यिक निष्ठा से बनती है।

मण्डलजी की साहित्यिक यात्रा इस अर्थ में विशेष है। वे साहित्य के मार्ग

पर प्रतिष्ठा माँगने नहीं, लिखने और लोकजीवन के अनुभवों को शब्द देने आए। उनकी रचनाओं में किसान, मजदूर, स्त्री, मिट्टी से जुड़े लोग, संघर्ष, अपमान, जिजीविषा और मनुष्य की गरिमा उपस्थित हैं। जो साहित्य ऐसे जीवन को केंद्र में लाता है, उसकी प्रतिष्ठा धीरे-धीरे समाज के भीतर जड़ पकड़ती है।

कई बार साहित्यिक समाज प्रतिष्ठा का अर्थ उलटा समझ लेता है। किसी समूह ने किसी नाम की घोषणा कर दी, तो प्रतिष्ठा; किसी मंच ने अभिनंदन कर दिया, तो प्रतिष्ठा; किसी संस्था ने सम्मान दे दिया, तो प्रतिष्ठा। संस्था, मंच और पुरस्कार का अपना महत्त्व अवश्य है, किंतु प्रतिष्ठा का अर्थ इतने तक सीमित नहीं है। उसका मूल स्रोत रचनाकार का कर्म है। यदि रचना जीवन से जुड़ी है, यदि उसमें गहरा अनुभव है और यदि पाठक उसे अपने जीवन का दर्पण मानता है, तो प्रतिष्ठा अपने लिए मार्ग बनाती जाती है।

मण्डलजी के संदर्भ में गोष्ठी और रचना अलग-अलग कर्म नहीं हैं। कथा लिखी गई, पुस्तक बनी, लोकार्पण हुआ, पाठक तक पहुँची, गोष्ठी में कथा सुनी गई, टिप्पणी और समीक्षा हुई तथा नए रचनाकारों का प्रवेश होता रहा। ये सब मिलकर साहित्यिक जीवन की निरंतर प्रक्रिया बनते हैं। इस प्रक्रिया में प्रतिष्ठा बाहर से चिपकाया गया लेबल नहीं, रचनाकार के प्रति भीतर से बनता हुआ विश्वास है।

कथा-गोष्ठी से कथा-धारा में गति आने का अर्थ साहित्य का सामाजिक संचरण है। रचना कमरे में बंद रह जाए, तो उसका जीवन सीमित रहता है। जब वह पाठक तक पहुँचती है, सुनी जाती है, उस पर प्रश्न उठते हैं, असहमति और प्रशंसा सामने आती है तथा समीक्षा होती है, तब वह साहित्यिक समाज की चलती धारा में प्रवेश करती है।

प्रतिष्ठा वहीं बनती है, जहाँ रचनाकार अपने कर्म से पीछे नहीं हटता। जहाँ श्रम, निरंतरता, विषय की गंभीरता और लोकजीवन के प्रति जिम्मेदारी दिखाई देती है। जो रचनाकार अपने कर्म के आधार पर खड़ा है, उसके साहित्यिक महत्त्व को स्थायी बनाने के लिए बाहरी सहारे की आवश्यकता नहीं रहती।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि साहित्य की वास्तविक प्रतिष्ठा समय का धैर्यपूर्ण निर्णय है। जो रचना लोकजीवन में प्रवेश करती है, पाठक के मन में प्रश्न जगाती है, समाज के छूटे हुए दृश्यों को सामने लाती है और निरंतर कर्म से

साहित्य की धरती जोतती रहती है, उसकी प्रतिष्ठा एक दिन में नहीं, पीढ़ियों की स्मृति में बनती है।

प्रतिष्ठा दी नहीं जाती, कर्म से बनती है। जो कर्म लोकजीवन के पक्ष में निष्ठा और ईमानदारी से निरंतर चलता रहता है, उसका साहित्यिक अर्थ समय के साथ और अधिक स्पष्ट और उज्ज्वल होता जाता है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 28

स्वीकृति घोषणा नहीं, लोकस्मृति में उतरने की प्रक्रिया है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "लेखन का मानदंड और समीक्षा की कसौटी कौन बनाएगा? बीते युग की दृष्टि वर्तमान साहित्य का समुचित मूल्यांकन नहीं कर सकती। प्रत्येक युग अपनी साहित्यिक कसौटी स्वयं गढ़ता है; इसलिए समसामयिक रचना का मूल्यांकन समसामयिक रचनाकार और समीक्षक की ऐतिहासिक जिम्मेदारी है।" (पृ. 41)

यह पंक्ति आधुनिक मैथिली साहित्य के सामने एक गंभीर प्रश्न रखती है। लेखन और समीक्षा के मानदंड कौन बनाएगा? संस्था, पुरस्कार, समीक्षक, विश्वविद्यालय, मंच, पाठक या समय? मण्डलजी का प्रश्न मानदंड बनाने के साथ साहित्यिक जिम्मेदारी का प्रश्न भी है। यदि अपने समय की रचनाओं को समझने की दृष्टि समकालीन साहित्यिक समाज नहीं बनाएगा, तो अगली पीढ़ी को एकांगी अभिलेख, सीमित समीक्षा और अधूरा साहित्यिक परिचय मिलेगा।

स्वीकृति घोषणा नहीं है। घोषणा तात्कालिक घटना होती है, किंतु स्वीकृति दीर्घ प्रक्रिया है। किसी पुस्तक का नाम मंच पर लिया गया, यह एक घटना है। किसी लेखक को पुरस्कार मिला, यह एक औपचारिक मान्यता है। साहित्यिक स्वीकृति तब आकार लेती है, जब रचना पढ़ी जाती है, फिर पढ़ी जाती है, गोष्ठियों में उसकी चर्चा होती है, वह विद्यार्थियों तक पहुँचती है, पाठक उसे अपने अनुभव से जोड़ते हैं और आलोचना उसके साहित्यिक मूल्य को परखती है।

मण्डलजी के साहित्य के संदर्भ में यह प्रश्न और अधिक आवश्यक हो उठता है। उनका लेखन विपुल, विविध, निरंतर और लोकजीवन के गहरे धरातल से जुड़ा है। ऐसे रचनाकार का मूल्यांकन पुरस्कार-सूची, पुस्तकों की संख्या

अथवा औपचारिक परिचय से पूर्ण नहीं हो सकता। उनके साहित्य के भीतर उपस्थित समाज, भाषिक धरती, संघर्ष और लोक-पक्ष का गहरा और सम्यक् पाठ आवश्यक है।

कई बार स्वीकृति देर से आती है, क्योंकि साहित्यिक समाज की दृष्टि समय पर तैयार नहीं होती। जो रचना प्रचलित प्रवृत्तियों से अलग होती है, उसे पढ़ने की तैयारी कम रहती है। जो लेखक सत्ता-समर्थित विषयों के बजाय मिट्टी से जुड़े लोगों का जीवन लिखता है, उसे समझने के लिए अलग दृष्टि चाहिए। जो साहित्य सजी-सँवरी भाषा के बजाय जीवन का खाँटी रूप और श्रम की गंध लेकर आता है, उसके मूल्यांकन के लिए पाठकीय दृष्टि का तैयार होना भी आवश्यक है।

मण्डलजी का साहित्य ऐसी ही चुनौती देता है। वह मैथिली साहित्य से पूछता है- क्या किसान के जीवन को साहित्य का केंद्र माना जाएगा? क्या मजदूर के अनुभव को साहित्यिक गरिमा मिलेगी? क्या स्त्री की अनकही पीड़ा और आकांक्षाओं का स्वर सुना जाएगा? क्या दबे-कुचले समाज की कथा को परिशिष्ट नहीं, साहित्य की मूलधारा माना जाएगा? यदि हाँ, तो मानदंड भी बदलने होंगे। पुराने मानदंडों से नए लोकजीवन का समुचित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

स्वीकृति ऊपर से उतरने वाला वरदान नहीं है। वह पाठक, रचना और समाज के बीच निरंतर संबंध से बनती है। पुस्तक पाठक के हाथ में जाए, कथा सुनी जाए, गोष्ठी में प्रश्न उठें, समीक्षा लिखी जाए, मतभेद सामने आएँ, नई पीढ़ी पढ़े, शिक्षक पढ़ाएँ, शोधार्थी परखें और समाज अपना चेहरा उस साहित्य में देखे, तभी स्वीकृति धीरे-धीरे लोकस्मृति में उतरती है।

यहाँ 'सगर राति दीप जरय' जैसे मंच का महत्त्व समझ में आता है। अनेक लेखकों की साहित्यिक यात्रा सुविधा की कुर्सी से आरंभ होकर ब्लॉग, इंटरनेट और पत्रिकाओं के पन्नों पर ठहर जाती है। शब्द छपते हैं, किंतु समाज से उनका साक्षात्कार शेष रह जाता है। ऐसा मंच केवल आयोजन नहीं, साहित्यिक स्मृति गढ़ने की कर्मभूमि है। जहाँ रचना सुनी जाती है, पुस्तक का लोकार्पण होता है, कथाकार और पाठक एक साथ बैठते हैं तथा समीक्षा और असहमति सामने आती है, वहीं साहित्य अलमारी की निस्तब्धता और स्क्रीन के एकांत से बाहर आकर समाज के बीच साँस लेता है।

मण्डलजी का प्रश्न "मानदंड कौन बनाएगा?" वास्तव में हम सबको झकझोरता है। यदि हम अपने समय के रचनाकारों को समय रहते नहीं पढ़ेंगे, तो अगली पीढ़ी किस आधार पर उनका मूल्यांकन करेगी? यदि लोकजीवन के साहित्य को गौण मानते रहेंगे, तो भाषा अपने समाज के बड़े हिस्से से कट जाएगी। यदि स्थापित नामों की परिक्रमा ही करते रहेंगे, तो साहित्य के नए इतिहास का मार्ग कौन खोलेगा?

'पयस्विनी' हमें यह बोध कराती है कि साहित्यिक स्वीकृति आग्रह अथवा घोषणा से स्थायी नहीं होती। वह रचना की सामर्थ्य, निरंतर सृजनकर्म और पाठक-समाज से बने संबंध के माध्यम से अर्जित होती है। साहित्यिक समाज की जिम्मेदारी है कि ऐसे कार्य को समय पर पढ़े, परखे और उसके मूल्य के अनुरूप स्थान दे। देर से मिली स्वीकृति भी अर्थवान होती है, किंतु समय पर किया गया न्याय साहित्य की ऊर्जा, विचार-प्रवाह और निरंतरता को बनाए रखता है।

इसलिए स्वीकृति घोषणा नहीं, लोकस्मृति में उतरने की प्रक्रिया है। जो रचना लोकजीवन को केंद्र में लाती है और समाज को अपने यथार्थ के प्रति सजग करती है, वह पुरस्कार, अभिलेख या कागजी मान्यता तक सीमित नहीं रहती। पाठक के अनुभव से जुड़ते-जुड़ते वह लोक के मन और साहित्य की दीर्घ स्मृति में अपना स्थान बना लेती है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 29

अवसर बाहर से नहीं आता, दृष्टि उसे पहचानती है

मण्डलजी लिखते हैं-

"नए लेखक के लिए कहें या नए लेखन के लिए, अवसर कहीं बाहर से नहीं आता। अवसर समाज में रहता ही है। उसे पहचानने और उसका उपयोग करने की क्षमता लेखक की अपनी दृष्टि पर निर्भर करती है। व्यक्ति केवल समाज की इकाई नहीं, दुनिया की इकाई भी है। वह अपने लेखन, श्रम और दृष्टि से इकाई-दहाई से बढ़ते हुए लाखों-करोड़ों लोगों तक कैसे पहुँचेगा, यह जिम्मेदारी स्वयं लेखक की है। इसलिए अवसर की प्रतीक्षा नहीं, अपने कर्म से अवसर बनाना पड़ता है।" (पृ. 112)

यह पंक्ति नए लेखक और नए लेखन के सामने अवसर का अर्थ नए ढंग से रखती है। मण्डलजी अवसर को बाहर से मिलने वाला कोई उपहार नहीं मानते। उनका कहना है कि अवसर जीवन में पहले से उपस्थित होते हैं, किंतु उन्हें पहचानने की सामर्थ्य लेखक की दृष्टि में होनी चाहिए।

एक ही घटना हजारों लोग देखते हैं, किंतु सभी उसके भीतर का अर्थ नहीं देख पाते। किसान का श्रम, मजदूर की मेहनत, स्त्री की चुप्पी, बच्चे की जिज्ञासा, वृद्ध की स्मृति, गाँव का बदलता रूप, बाजार का दबाव और मनुष्य के संबंधों में आते परिवर्तन सबके सामने रहते हैं। लेखक की सजग दृष्टि इसी सामान्य दिखाई देने वाले जीवन के भीतर छिपे प्रश्न, पीड़ा, सौंदर्य और संभावना को पहचानती है। तभी देखी हुई घटना रचना का विषय बनती है।

अवसर मौजूद रहते हैं, इसका अर्थ यह नहीं कि सभी लेखकों का मार्ग समान रूप से सहज है। किसी को मंच आसानी से मिल जाता है, तो किसी को अपनी आवाज पाठक तक पहुँचाने के लिए लंबा संघर्ष करना पड़ता है। सामाजिक स्थिति, आर्थिक अभाव, क्षेत्रीय दूरी और संस्थागत उपेक्षा भी मार्ग में बाधाएँ बन सकती हैं। किंतु ये बाधाएँ लेखक के भीतर की रचनात्मक संभावना समाप्त नहीं करतीं। जब तक जीवन, भाषा, अनुभव और प्रश्न हैं, तब तक लेखन की जमीन भी है।

नए लेखक की पहली पूँजी परिचय, पुरस्कार या बड़ा मंच नहीं, उसकी सजग दृष्टि है। वह अपने चारों ओर के जीवन को कितने ध्यान से देखता है, लोगों की बात कितने धैर्य से सुनता है, अपने अनुभव पर कितनी गहराई से विचार करता है और भाषा को समृद्ध करने के लिए कितना श्रम करता है, इसी से उसका रचनात्मक मार्ग बनता है। मंच रचना को लोगों तक पहुँचा सकता है, किंतु रचना का प्राण लेखक के अनुभव, दृष्टि और संवेदना से जन्म लेता है।

मण्डलजी व्यक्ति को केवल समाज की ही नहीं, दुनिया की इकाई भी कहते हैं। इस कथन में व्यक्तिगत सामर्थ्य के साथ सामाजिक दायित्व भी समाहित है। लेखक अपने अनुभव से लिखता है, किंतु उसकी रचना केवल उसकी निजी वस्तु नहीं रहती। वह समाज की स्मृति, वर्तमान के प्रश्न और भविष्य की संभावनाओं से जुड़ जाती है। एक व्यक्ति का विचार इकाई-दहाई से बढ़कर लाखों लोगों तक तभी पहुँचता है, जब उसके भीतर व्यापक मनुष्यता और

लोकहित की भावना होती है।

लाखों-करोड़ों लोगों तक पहुँचने का अर्थ केवल संख्या बढ़ाना नहीं है। हजारों लोग किसी सामग्री को देख सकते हैं, किंतु वह उनकी चेतना में कोई प्रश्न न जगाए, यह संभव है। दूसरी ओर, सीमित पाठकों तक पहुँची कोई रचना उनके भीतर गहरी हलचल उत्पन्न कर सकती है और धीरे-धीरे व्यापक सामाजिक संवाद का आधार बन सकती है। इसलिए लेखक का लक्ष्य केवल चर्चित होना नहीं, जीवन के सत्य को ऐसे रूप में अभिव्यक्त करना होना चाहिए कि पाठक उसे अपने अनुभव से जोड़ सके।

अवसर पहचानने के लिए प्रतीक्षा से अधिक तैयारी आवश्यक है। नियमित अध्ययन, जीवन का अवलोकन, भाषा का अभ्यास, आत्मपरीक्षण और आलोचना सुनने का साहस लेखक की दृष्टि को विस्तृत करते हैं। जिस प्रश्न पर सब चुप हैं, वहाँ आवाज उठाना अवसर है। जिस जीवन को साहित्य ने कम स्थान दिया है, उसे ध्यान से समझना अवसर है। पुराने विषय के भीतर नया अर्थ खोजना और बदलते समय को नई दृष्टि से देखना भी अवसर है।

नए लेखक के लिए सबसे बड़ा संकट अवसर के अभाव से पहले अपनी संभावना पर अविश्वास का है। जब वह मान लेता है कि कोई आमंत्रण देगा तभी लिखेगा, कोई मान देगा तभी आगे बढ़ेगा या कोई संस्था प्रमाणित करेगी तभी उसकी रचना सार्थक होगी, तब वह अपनी सृजनात्मक शक्ति का निर्णय दूसरों के हाथ में दे देता है। मण्डलजी इस निर्भरता से मुक्त होकर अपनी दृष्टि को सक्रिय करने की प्रेरणा देते हैं।

अवसर कहीं से आता नहीं, वह उपस्थित रहता है। प्रश्न केवल इतना है कि हमारी दृष्टि उसे पहचानती है या नहीं। नए लेखन का मार्ग जीवन के बीच खुला है। उसे देखने की दृष्टि, उस पर चलने का साहस और अपने अनुभव को सामाजिक अर्थ देने की जिम्मेदारी स्वयं अर्जित करनी पड़ती है।

‘पयस्विनी’ से विचार-बिंदु 30

पुरस्कार अंतिम लक्ष्य नहीं, सृजन की यात्रा अनवरत है

मण्डलजी लिखते हैं- "‘को बर छोट कहत अपराधू’ की तरह कथा-यात्रा ने ‘टैगोर लिटरेचर एवार्ड’ दिया और उसी तरह उपन्यास ने ‘साहित्य अकादेमी

पुरस्कार'। इसलिए मेरा कोई निर्धारित अंतिम लक्ष्य नहीं है। यह अनवरतता है- समय जैसा, सृजन वैसा।" (पृ. 105)

यह पंक्ति पुरस्कार की उपलब्धि से अधिक रचनाकार की मानसिक स्थिति का परिचय देती है। कथा-संग्रह को 'टैगोर लिटरेचर एवार्ड' और उपन्यास को 'साहित्य अकादेमी पुरस्कार' मिला, किंतु मण्डलजी अपनी सृजनात्मक यात्रा को वहीं पूर्ण नहीं मानते। उनके लिए पुरस्कार कोई अंतिम लक्ष्य नहीं, अनवरत लेखन-यात्रा के बीच मिली सार्वजनिक स्वीकृति है।

मण्डलजी पुरस्कार के महत्त्व को नकारते नहीं, बल्कि उसका उचित स्थान निर्धारित करते हैं। पुरस्कार रचनाकार के श्रम को मान्यता देता है, रचना को व्यापक पाठक-वर्ग तक पहुँचने का मार्ग खोलता है और भाषा-साहित्य की प्रतिष्ठा बढ़ाता है। किंतु पुरस्कार मिलते ही लेखक के प्रश्न समाप्त नहीं हो जाते। जीवन बदलता रहता है, समाज नई उलझनें उत्पन्न करता है और प्रत्येक समय लेखक से नए रचनात्मक उत्तर माँगता है। एक कृति की सफलता अगली रचना का स्थान नहीं ले सकती।

"यह अनवरतता है" मण्डलजी के रचनात्मक जीवन का मूल सूत्र है। अनवरतता का अर्थ केवल पुस्तकों की संख्या बढ़ाना नहीं है। इसका अर्थ है जीवन से संबंध बनाए रखना, बदलते समाज को ध्यान से देखना, अपनी दृष्टि को परखना और नए प्रश्नों के साथ रचनात्मक संवाद करते रहना। कलम चलती रहे, किंतु उसमें जीवन के नए अनुभव प्रवेश न करें, तो पुस्तकों की संख्या बढ़ने के बाद भी सृजन भीतर से ठहर सकता है।

पुरस्कार के बाद लेखक के सामने आत्मसंतोष का एक सूक्ष्म संकट उत्पन्न हो सकता है। वह अपनी ही सफल रचना का अनुकरण करने लगे, प्राप्त प्रतिष्ठा की सीमा में बंद हो जाए अथवा आलोचनात्मक प्रश्नों से दूरी बना ले, यह संभव है। अनवरतता लेखक को इसी आत्ममोह से बचाती है। वह स्मरण कराती है कि बीती उपलब्धि सम्मान का विषय है, किंतु वर्तमान की रचनात्मक ईमानदारी का विकल्प नहीं।

"समय जैसा, सृजन वैसा" लापरवाही का कथन नहीं, बदलते जीवन के प्रति रचनाकार की सजगता का संकेत है। प्रत्येक समय अपने प्रश्न लेकर आता है और प्रत्येक विषय अपनी अभिव्यक्ति माँगता है। कथा, उपन्यास, कविता

अथवा नाटक एक ही रचनात्मक ढाँचा स्वीकार नहीं करते। ग्रामीण जीवन के अनुभव, सामाजिक विषमता, पारिवारिक संबंध और मानवीय संघर्ष, सभी के अपने-अपने स्वर हैं। अनवरत लेखक समय और विषय के स्वभाव को समझकर उनके अनुरूप भाषा और रूप खोजता रहता है।

यदि सृजन का लक्ष्य केवल पुरस्कार बन जाए, तो लेखक की दृष्टि जीवन से अधिक निर्णायक संस्थाओं की ओर रह सकती है। वह लिखते समय सोचने लगता है कि कौन-सा विषय चर्चित होगा, कौन-सी शैली स्वीकार की जाएगी और कौन-सी रचना प्रतिष्ठा का मार्ग खोलेगी। तब रचना जीवन की आंतरिक आवश्यकता से नहीं, बाहरी गणना से संचालित होने लगती है। मण्डलजी की अनवरतता इस मानसिकता से अलग है। उनके लिए लेखन जीवन से चलता संवाद है, पुरस्कार की प्रतीक्षा में किया गया आयोजन नहीं।

पाठक और साहित्यिक समाज का दायित्व भी यहाँ जुड़ता है। किसी रचनाकार को उसकी पुरस्कार-प्राप्त एक ही कृति में बाँधकर देखना उचित नहीं। पुरस्कार उस कृति की विशिष्टता को चिह्नित करता है, रचनाकार के संपूर्ण विकास को समाप्त नहीं करता। पुरस्कार से पहले और बाद की रचनाएँ पढ़ी जाएँ, उसकी दृष्टि के विकास को समझा जाए और प्रत्येक नई कृति का स्वतंत्र मूल्यांकन किया जाए, तभी रचनाकार की अनवरत यात्रा का वास्तविक परिचय मिलेगा।

अनवरत सृजन का आधार अध्ययन, अनुभव, श्रम और आत्मपरीक्षण है। प्रशंसा मिले या आलोचना, आयोजन हो या एकांत, लेखक का संबंध अपने कागज-कलम और समाज से बना रहे। उपलब्धि उसका उत्साह बढ़ाए, किंतु उसे आत्ममुग्ध न बनाए। असहमति उसे पुनर्विचार के लिए प्रेरित करे, किंतु उसकी रचनात्मक गति न रोके।

पुरस्कार रचनाकार की यात्रा को सार्वजनिक मान्यता देता है, किंतु वह यात्रा समाप्त नहीं करता। लेखक की वास्तविक पहचान इसी से बनती है कि सम्मान मिलने के बाद भी उसकी दृष्टि जीवन पर सजग रहती है। बीती उपलब्धि के प्रकाश में खड़े रहते हुए भी जो नए अनुभव, नए प्रश्न और नई रचना के मार्ग पर आगे बढ़ता रहता है, उसकी सृजन-यात्रा सचमुच अनवरत बनती है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 31

भाषा कमजोर नहीं, भरोसा कमजोर है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "मैथिली इतनी समृद्ध भाषा है। यह जनभाषा है। ...इसलिए भाषा कमजोर नहीं है।" (पृ. 43)

यह पंक्ति मैथिली भाषा के संबंध में मण्डलजी के आत्मविश्वास की सीधी और स्पष्ट घोषणा है। वे मैथिली के लिए दया नहीं माँगते। वे मैथिली के लिए उसके अपने लोगों का भरोसा माँगते हैं। उनके लिए मैथिली कोई दुर्बल, असहाय अथवा केवल भावुक स्मृतियों की भाषा नहीं है। यह जनभाषा है, लोकजीवन से जन्मी भाषा है, धरती की महक, श्रम की लय, घर-आँगन के संबंधों, समाज के अनुभवों और मनुष्य की सामूहिक चेतना से बनी भाषा है।

भाषा इसलिए कमजोर नहीं होती कि उसे बोलने वाले गरीब हैं। भाषा तब कमजोर पड़ती है, जब उसे बोलने वाले उस पर भरोसा करना छोड़ देते हैं। जब लोग अपनी भाषा को घर तक सीमित रखकर बाहर दूसरी भाषा के सामने हीनभाव से खड़े होने लगते हैं, तब भाषा नहीं, मन कमजोर पड़ता है। भाषा का वास्तविक संकट उसके शब्दों की कमी में नहीं, उसके लोगों के आत्मविश्वास की कमी में होता है।

मण्डलजी की बात यहाँ बहुत गहरी है। वे कहते हैं कि भाषा का जन्म और विकास कभी रुकता नहीं। समय के साथ भाषा बदलती है, बढ़ती है, नए शब्द ग्रहण करती है, नए अनुभवों को स्वर देती है और नए सामाजिक प्रश्नों को अपने भीतर स्थान देती हुई आगे बढ़ती है। किंतु इसके लिए भाषा-प्रेम केवल भावुक घोषणा बनकर नहीं रह जाना चाहिए। उसे व्यवहार, लेखन, पाठ, संवाद और साहित्य के सघन धरातल पर उतारना होगा। भाषा तभी जीवित रहती है, जब उससे प्रेम केवल कहा नहीं जाता, बल्कि प्रतिदिन जिया जाता है।

मैथिली को बचाने का अर्थ केवल मैथिली पर गर्व करना नहीं है। मैथिली में सोचना, मैथिली में लिखना, मैथिली में पढ़ना, मैथिली में बहस करना, मैथिली से नई पीढ़ी को जोड़ना और मैथिली में समाज के वास्तविक प्रश्नों को व्यक्त करना ही वास्तविक भाषा-सेवा है। भाषा केवल मंचीय घोषणाओं से नहीं बचती। भाषा तब बचती है, जब वह जीवन के सामान्य व्यवहार से लेकर विचार के बड़े प्रश्नों तक स्वाभाविक रूप से उपस्थित रहती है।

भाषा का संकट प्रायः बाहर से कम और भीतर से अधिक आता है। जब हम अपनी भाषा को छोटा मानने लगते हैं, तब दूसरे भी उसे छोटा कहने का साहस पाते हैं। जब हम अपनी भाषा में विचार के बड़े प्रश्न नहीं उठाते, तब लोग समझने लगते हैं कि यह भाषा केवल घर-परिवार की बोलचाल तक सीमित है। यह धारणा केवल भाषा के लिए नहीं, समाज के लिए भी खतरनाक है।

मण्डलजी की दृष्टि इस भ्रम को तोड़ती है। उनके लिए भाषा समाज की आत्मा है। जो समाज अपनी भाषा को सम्मान नहीं दे सकता, वह अपने अनुभव, इतिहास, स्मृति और अस्मिता के पूरे अर्थ को भी सुरक्षित नहीं रख सकता। भाषा केवल बोलने का माध्यम नहीं, अपने लोक के भीतर के जीवन को पहचानने का आधार भी है।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि मैथिली कमजोर नहीं है। कमजोर है हमारा भरोसा, हमारी निष्ठा और हमारा नियमित व्यवहार। भाषा तब मजबूत होती है, जब उसके लोग उसे अपने जीवन, विचार, श्रम, संघर्ष और भविष्य की भाषा बनाते हैं। मैथिली को कमजोर कहने से पहले हमें अपने भरोसे को देखना चाहिए। क्योंकि भाषा तब तक जीवित और समर्थ रहती है, जब तक उसके लोग उसे अपनी आत्मा की आवाज मानकर व्यवहार में लाते रहते हैं।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 32

सत्य हाशिये का नहीं, उसकी स्वीकृति विलंबित है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "किंतु मूलवासियों की जीवन-शैली और रीति-नीति का पूर्ण विलयन न तो संभव था और न ही हुआ। आज भी वह दूब की तरह मिट्टी को पकड़े हुए है।" (पृ. 19)

यह पंक्ति सांस्कृतिक वर्चस्व के बीच लोकजीवन की अदम्य जीवन-शक्ति का परिचय देती है। मण्डलजी बताते हैं कि आरोपित संस्कृति चाहे कितनी भी प्रभावी रही हो और सत्ता चाहे कितनी भी मजबूत रही हो, मूलवासियों की जीवन-शैली और रीति-नीति का पूर्ण विलयन संभव नहीं हुआ। उसे दबाया गया, किनारे रखा गया, उसकी प्रतिष्ठा घटाई गई और उसका नाम बदल दिया गया, किंतु उसका अस्तित्व समाप्त नहीं हुआ। वह दूब की तरह मिट्टी को पकड़े रहा।

दूब देखने में छोटी होती है, किंतु उसकी जड़ें मिट्टी के भीतर दूर तक फैली

रहती हैं। उसे रौंदा जा सकता है, काटा जा सकता है, किंतु आसानी से मिटाया नहीं जा सकता। अनुकूल अवसर मिलते ही वह फिर मिट्टी के भीतर से निकल आती है। मण्डलजी मूलवासियों की जीवन-शैली की तुलना इसी जीवन-शक्ति से करते हैं। यह केवल सुंदर बिंब नहीं, दबाव के बीच जीवित रहे लोकजीवन की गहरी सामाजिक व्याख्या है।

यहाँ 'हाशिया' और 'विलंबित स्वीकृति' का अंतर समझना आवश्यक है। हाशिया समाज में किनारे रखे जाने की स्थिति है, जबकि विलंबन स्वीकृति, पहचान और अभिलेखन में हुई देरी का संकेत है। जिस समुदाय को सत्ता ने किनारे रखा, वह इतिहास में हाशिये पर अवश्य रहा। किंतु उसका जीवन-सत्य अपने मूल्य और महत्त्व में हाशिये का नहीं था। वह जीवन पहले से उपस्थित था; विलंबित केवल उसकी सामाजिक स्वीकृति और इतिहास में उसका उचित अभिलेखन हुआ।

'हाशिया' शब्द अन्याय को पहचानने के लिए उपयोगी है। यह बताता है कि किसी समुदाय को सत्ता और संसाधनों के केंद्र से दूर रखा गया। किंतु यदि हाशिये को उस समुदाय की स्थायी पहचान बना दिया जाए, तो यह शब्द स्वयं एक नई सीमा बन सकता है। किसी को हाशिये पर रखा गया कहना ऐतिहासिक अन्याय को पहचानना है; उसे स्वभावतः हाशिये का मान लेना उस अन्याय को स्वीकार करना है।

मण्डलजी की दृष्टि यहाँ विशेष महत्त्व रखती है। वे दबे हुए जीवन को मृत जीवन नहीं मानते। जिन रीति-रिवाजों को निम्न कहकर उपेक्षित किया गया, वे लोक के व्यवहार में जीवित रहे। जिस भाषा को अशुद्ध कहा गया, वह लोक-कंठ में बोलती रही। जिस ज्ञान को शास्त्रीय मान्यता नहीं मिली, वह खेती, श्रम, प्रकृति और सामूहिक जीवन को संचालित करता रहा। सत्ता उसकी प्रतिष्ठा घटा सकी, किंतु उसकी उपयोगिता और जीवन-शक्ति समाप्त नहीं कर सकी।

साहित्य की जिम्मेदारी यहीं बढ़ जाती है। साहित्य दबे हुए जीवन को अस्तित्व नहीं देता; वह पहले से उपस्थित अस्तित्व को दृश्य और पठनीय बनाता है। जिसका इतिहास देर से दर्ज हुआ, उसे धैर्य और संवेदना के साथ पढ़ना साहित्य की नैतिक जिम्मेदारी है। जिस जीवन को लंबे समय तक किनारे रखा गया, उसका उचित स्थान स्वीकार करना कोई कृपा नहीं, साहित्यिक और

सामाजिक न्याय है।

दूब का बिंब हमें यह भी समझाता है कि लोकजीवन केवल स्मृति का विषय नहीं है। वह वर्तमान में भी जीवित है। उसकी रीति, भाषा, ज्ञान और सामूहिकता बदलते समय के बीच नए रूप ग्रहण करते रहते हैं। इसलिए उसे संग्रहालय की वस्तु बनाकर नहीं, जीवित सामाजिक अनुभव के रूप में समझना चाहिए।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि हाशिये पर रखे गए जीवन को नई दृष्टि से पढ़ें। कई बार साहित्य का भविष्य वहीं से खुलता है, जहाँ इतिहास की दृष्टि देर से पहुँचती है। जो धारा मुख्य इतिहास से बाहर रखी गई, वह दूसरे दर्जे का इतिहास नहीं, समाज के जीवन का वह आवश्यक पक्ष है, जिसके बिना इतिहास का समग्र रूप सामने नहीं आ सकता।

सत्य हाशिये का नहीं होता, उसकी स्वीकृति विलंबित हो सकती है। इसलिए दबे हुए जीवन-सत्य को पढ़ें, स्वीकार करें, उसका अध्ययन करें और साहित्य में उसे उचित स्थान दें। समाज का इतिहास तभी समग्र बनेगा, जब दबाई गई स्मृतियाँ भी अपने नाम, अपने स्वर और अपनी अस्मिता के साथ दर्ज होंगी।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 33

अतीत के गौरव में अटका साहित्य वर्तमान की धड़कन नहीं सुनता

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "जहाँ तक साहित्यिक प्रवृत्ति का प्रश्न है, वह अभी भी अतीतोन्मुखी है। आवश्यकता समसामयिक बनने की है, उसमें कमी है। वह कमी कौन दूर करेगा? हम और आप ही न करेंगे।" (पृ. 110)

यह पंक्ति मैथिली साहित्य की वर्तमान प्रवृत्ति पर गंभीर प्रश्न उठाती है। मण्डलजी अतीत को नकारते नहीं। वे परंपरा से संबंध तोड़ने की बात भी नहीं कहते। किंतु वे सचेत करते हैं कि यदि साहित्य अतीत के गौरव में अटक जाए, तो वर्तमान जीवन और ज्वलंत प्रश्नों से उसका संबंध कमजोर पड़ जाएगा।

अतीत समाज को स्मृति, परंपरा और सांस्कृतिक आधार देता है। किंतु साहित्य का दायित्व केवल अतीत की उपलब्धियाँ गिनाना नहीं है। उसका काम वर्तमान की धड़कन सुनना, बदलते समाज को देखना, नई समस्याओं को

पहचानना और अपने समय के मनुष्य की पीड़ा, संघर्ष तथा आकांक्षाओं को शब्द देना भी है। जो साहित्य वर्तमान को नहीं पढ़ता, वह धीरे-धीरे पाठक के जीवन से दूर होता जाता है।

"समसामयिक बनने" का मण्डलजी का आह्वान फैशन के पीछे भागने का आग्रह नहीं है। समसामयिक बनने का अर्थ अपने समय की वास्तविकताओं से साक्षात्कार करना है। आज का किसान किस प्रकार जी रहा है? मजदूर के श्रम और अधिकार की स्थिति क्या है? गाँव की नई पीढ़ी पलायन के लिए क्यों विवश है? घर-परिवार में मैथिली का स्थान कितना बचा है? स्त्रियों के अनुभव और संघर्ष में कौन-से परिवर्तन आए हैं? डिजिटल युग में भाषा-साहित्य की नई जिम्मेदारियाँ क्या हैं? साहित्यिक मंचों और संस्थाओं में किसे स्थान मिलता है और किसे किनारे छोड़ दिया जाता है? ये सभी प्रश्न वर्तमान जीवन के भीतर से उठते हैं।

यदि साहित्य केवल गौरव की कथा सुनाता रहेगा, तो समाज की वर्तमान पीड़ा उपेक्षित रह जाएगी। यदि वह पुरानी उपलब्धियों के बखान और पुनरावृत्ति में उलझा रहेगा, तो नई चुनौतियों का सामना कैसे होगा? जब साहित्यिक संसार स्थापित नामों की परिक्रमा तक सीमित हो जाएगा, तो नए स्वर और नए विषयों को स्थान कैसे मिलेगा, नया पाठक साहित्य से कैसे जुड़ेगा और नई पीढ़ी के लिए आगे बढ़ने का मार्ग कैसे खुलेगा? मण्डलजी का प्रश्न इसी बिंदु पर साहित्य की भूमिका, दायित्व और भविष्य के संबंध में गहरे आत्मपरीक्षण की माँग करता है।

"वह कमी कौन दूर करेगा?" यह प्रश्न पूछकर मण्डलजी केवल दोष नहीं गिनाते। वे उत्तरदायित्व के घेरे में स्वयं को भी रखते हैं। "हम और आप ही न करेंगे" कहकर वे लेखक और पाठक के बीच की दूरी मिटा देते हैं। इस "हम और आप" में लेखक, पाठक, शिक्षक, विद्यार्थी, शोधार्थी, संपादक, प्रकाशक, आयोजक और संस्थाएँ सभी शामिल हैं। साहित्य का वर्तमान और भविष्य बनाने की जिम्मेदारी किसी अदृश्य शक्ति की नहीं, हम सबकी है।

साहित्य तभी समसामयिक बनेगा, जब हम अपने समय के लोगों का स्वर सुनेंगे। खेत-पथार में बोली जाने वाली भाषा सुनेंगे। रोजी-रोटी के लिए गाँव छोड़ते युवाओं की बेचैनी समझेंगे। घर-परिवार में बच्चों की मैथिली से बढ़ती दूरी

के कारण खोजेंगे। समाज की जातीय, आर्थिक, लैंगिक और सांस्कृतिक दूरियों को पहचानेंगे। डिजिटल माध्यमों में उभरते नए पाठक-वर्ग की रुचि और भाषा समझेंगे। जीवन जब बदलता रहेगा, तो साहित्य के विषय, दृष्टि और अभिव्यक्ति-पद्धति भी बदलते रहेंगे।

इसी बिंदु पर मण्डलजी की रचनात्मक दृष्टि आकर्षित करती है। वे अतीत के अनुभव और लोकपरंपरा से गहरे जुड़े हैं, किंतु वर्तमान के प्रश्नों से मुँह नहीं मोड़ते। उनकी रचनाओं में खेत, श्रम, गाँव, जातीय विषमता, आर्थिक दूरी, शिक्षा, संस्कृति और सामाजिक परिवर्तन जीवित अनुभवों के रूप में आते हैं। इसलिए उनके लिए साहित्य केवल सौंदर्य-सृष्टि नहीं, समाज को अपना चेहरा दिखाने वाला दर्पण भी है।

अतीत से कटकर वर्तमान नहीं बनता। किंतु अतीत को पकड़े रहकर भी भविष्य नहीं गढ़ा जा सकता। आवश्यकता है अतीत से शक्ति लेने, वर्तमान को निर्भीकता से समझने और भविष्य के लिए नया मार्ग बनाने की। साहित्य की जीवंतता इसी यात्रा में है।

अतीत में अटका साहित्य वर्तमान नहीं गढ़ता। जो साहित्य अपने समय के सुख-दुःख, संघर्ष और संभावनाओं से जुड़ता है, वही भविष्य की स्मृति बनता है। मण्डलजी का “हम और आप” इसी साहित्यिक जिम्मेदारी को स्वीकार करने का सामूहिक आह्वान है।

‘पयस्विनी’ से विचार-बिंदु 34

लोक की भाषा में लिखा साहित्य लोक को प्रेम के सूत्र में जोड़ता है

‘पयस्विनी’ में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- “कर्म का क्षेत्र अपना गाँव रहा, जहाँ की भाषा मैथिली है; इसलिए हिंदी का विद्यार्थी होते हुए भी मैथिली में लिखता हूँ।” (पृ. 75)

यह पंक्ति मण्डलजी की भाषिक निष्ठा और साहित्यिक निर्णय का स्पष्ट परिचय देती है। वे हिंदी के विद्यार्थी रहे, किंतु रचना की भाषा मैथिली चुनी। यह चयन भाषिक सुविधा या केवल भावुक आग्रह का परिणाम नहीं, बल्कि अपने जीवन, कर्मभूमि और समाज के प्रति उत्तरदायित्व से लिया गया निर्णय है। जो गाँव उनकी कर्मभूमि रहा, जो समाज उनके अनुभव का आधार बना और जिन

लोगों के जीवन से उनके पात्र जन्मे, उनकी भाषा मैथिली है। इसलिए उनकी साहित्यिक भाषा भी वहीं से जन्मी।

भाषा रचनाकार के लिए केवल अभिव्यक्ति का साधन नहीं होती। भाषा जीवन का वह घर होती है, जहाँ अनुभव अपने सहज रूप में साँस लेते हैं। मण्डलजी समझते हैं कि गाँव का दुःख-सुख, किसान की चिंता, स्त्री के अनकहे अनुभव, खेतिहर मजदूर का श्रम और उपेक्षित लोगों का संघर्ष मैथिली में अपना स्वाभाविक स्वर पाते हैं। उस जीवन को दूसरी भाषा में व्यक्त करना संभव है, किंतु उसकी गंध, ताप, अपनापन, वाक्य की चाल और मिट्टी का स्पर्श उतनी सहजता से सुरक्षित नहीं रह पाता।

जिस भाषा में माँ बच्चे को स्नेह से पुकारती है, पड़ोसी विपत्ति में ढाढ़स बँधाता है, लोग हँसी और दुःख बाँटते हैं, अपनी गलती स्वीकार करते हैं और टूटे संबंधों को फिर जोड़ते हैं, वह भाषा केवल शब्दों का भंडार नहीं रहती। वह समाज के प्रेम, स्मृति और भाईचारे का जीवित घर बन जाती है। उसी भाषा में लिखा साहित्य पाठक को केवल कथा नहीं सुनाता, उसे अपने लोक, अपने संबंधों और अपने सामूहिक जीवन से जोड़ता है।

मण्डलजी का मैथिली में लिखना मैथिली-प्रेम की औपचारिक घोषणा भर नहीं, अपनी कर्मभूमि के प्रति उत्तरदायित्व है। रचनाकार जिन लोगों के बीच रहता है और जिनके श्रम, संबंध तथा संघर्ष से अनुभव अर्जित करता है, उन लोगों की भाषा में बोलने की नैतिक जिम्मेदारी भी उसके सामने रहती है। मण्डलजी इसी जिम्मेदारी को स्वीकार करते हैं। वे भाषा को मंच का आभूषण नहीं बनाते, बल्कि उसे लोकजीवन के श्रम, संघर्ष, प्रेम, स्मृति और स्वाभिमान को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य देते हैं।

हिंदी का विद्यार्थी होते हुए भी मैथिली में लिखना एक गहरा संकेत है। शिक्षा रचनाकार को ज्ञान, विचार और साहित्यिक संस्कार देती है, किंतु जीवन उसकी रचनात्मक जड़ और वास्तविक दिशा निर्धारित करता है। हिंदी-अध्ययन ने मण्डलजी को बौद्धिक तैयारी दी, किंतु उनकी रचनात्मक संवेदना, सामाजिक अनुभव और लोक-संवाद ने मैथिली में आकार ग्रहण किया। उनका भाषिक चयन शिक्षा और कर्मभूमि के बीच विरोध नहीं, बल्कि दोनों का सार्थक समन्वय है।

साहित्य की भाषा तभी प्रामाणिक बनती है, जब वह पात्र के जीवन,

परिवेश और अनुभव से मेल खाती है। यदि किसान अपनी बात कह रहा है, गाँव की स्त्री अपना अनुभव व्यक्त कर रही है, खेतिहर मजदूर अपने श्रम का अर्थ खोल रहा है या वृद्ध किसान मौसम, मिट्टी, पानी और परिवार की बात कर रहा है, तो उसकी भाषा उस जीवन से कटी हुई नहीं होनी चाहिए। मण्डलजी की मैथिली इसी कारण जीवंत, धरती-स्पर्शी और विश्वसनीय बनती है।

इस पंक्ति में "कर्म का क्षेत्र" विशेष महत्त्व रखता है। यदि रचनाकार की कर्मभूमि गाँव है, तो गाँव केवल उसका विषय नहीं, शिक्षक भी है। गाँव उसे शब्द, मुहावरे, वाक्य की चाल, अनुभव और दृष्टि देता है। मण्डलजी के लेखन में गाँव केवल पृष्ठभूमि नहीं, रचना-चेतना का आधार है। गाँव की भाषा उनके लिए लोक-सत्य, सामाजिक संबंध और मनुष्य के भीतरी जीवन तक पहुँचने का मार्ग है।

अपनी भाषा से प्रेम का अर्थ दूसरी भाषाओं का विरोध नहीं है। जो प्रेम विरोध और हीनताबोध उत्पन्न करे, वह साहित्यिक उदारता नहीं है। अपनी भाषा का सम्मान जब दूसरी भाषा और उसके लोगों के सम्मान से जुड़ता है, तभी भाषिक प्रेम भाईचारे का रूप ग्रहण करता है। मण्डलजी की मैथिली-निष्ठा कोई भाषिक दीवार नहीं बनाती। वह अपने लोक के जीवन को उसकी सहज भाषा में प्रतिष्ठा देती है और व्यापक मानवीय साहित्य को समृद्ध करती है।

साहित्य की गरिमा इसी में है कि वह अपने समाज की भाषा को सम्मान दे। जिस भाषा में लोग हँसते हैं, रोते हैं, श्रम करते हैं, प्रेम व्यक्त करते हैं और सामाजिक संबंध बनाते हैं, उसी भाषा में साहित्य रचना समाज के सामूहिक आत्मसम्मान को स्वीकार करना है। लोकभाषा में लिखा साहित्य लोगों को यह भरोसा देता है कि उनका जीवन, श्रम, दुःख, प्रेम और सपना साहित्य के योग्य है।

वास्तविक साहित्य भाषा का प्रदर्शन नहीं, मनुष्यों के बीच संबंध बनाने वाला सृजनात्मक कर्म है। वास्तविक साहित्यकार की पहचान इसी में है कि वह अपनी भाषा को लोक से और लोक को व्यापक मानवता से जोड़े। मण्डलजी का लेखन बताता है कि साहित्य तब प्रामाणिक होता है, जब रचनाकार अपने लोक की भाषा में अपने लोक का जीवन कहता है और उसके भीतर जीवित प्रेम, स्नेह और भाईचारे को स्वर देता है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 35

मिथिला सबकी, मैथिली सबकी, सेवा भी सबकी

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "मिथिला सबकी मातृभूमि और मैथिली सबकी भाषा है, इसलिए उसे अपना समझकर उसकी सेवा में लग जाइए।" (पृ. 83)

यह पंक्ति मण्डलजी की समावेशी चेतना की स्पष्ट घोषणा है। वे मिथिला और मैथिली को किसी जाति, वर्ग, क्षेत्र, संस्था या खेमे की निजी संपत्ति नहीं मानते। उनके लिए मिथिला सबकी मातृभूमि है और मैथिली सबकी भाषा। इसलिए जब अधिकार सबका है, तो उसकी सेवा का उत्तरदायित्व भी सबका है।

मैथिली केवल कुछ लेखकों या विद्वानों की लिखने की भाषा नहीं है। यह घर-आँगन की भाषा है, लोक-कंठ की भाषा है, संस्कार-गीतों की भाषा है। यह खेत-पथार, हाट-बाजार, गाँव की बातचीत, कथा-कविता और लोगों के दुःख-सुख की भाषा है। लोकजीवन में इतनी गहराई से बसी भाषा को कुछ लोगों तक सीमित करना उसके स्वभाव और सम्मान, दोनों के विरुद्ध है।

मिथिला केवल भूगोल का नाम नहीं है। मिथिला एक सांस्कृतिक संबंध है, जो मधुबनी, दरभंगा, सुपौल, सहरसा, पूर्णिया, कटिहार, सीतामढ़ी, जनकपुर, विराटनगर से लेकर देश-दुनिया में फैले मैथिलीभाषी लोगों को जोड़ता है। मण्डलजी द्वारा 'सबकी' शब्द का प्रयोग इस संबंध की सीमा बढ़ाता है और अधिकार के केंद्र में प्रत्येक मैथिलीभाषी को लाता है।

मैथिली सबकी भाषा है, इसलिए उसके संरक्षण और संवर्धन का उत्तरदायित्व भी सबका है। उसकी सेवा केवल विद्वान, लेखक या संस्था का काम नहीं है। लेखक अपने लेखन से योगदान दे सकता है, पाठक नियमित अध्ययन से, शिक्षक नई पीढ़ी को पढ़ाकर और गायक अपने स्वर में मैथिली को जीवित रखकर। किसान अपनी बोली के स्वाभाविक रूप को बचाकर, माँ बच्चे से मैथिली बोलकर और नई पीढ़ी डिजिटल माध्यमों में मैथिली को स्थान देकर भाषा का भविष्य मजबूत कर सकती है। भाषा तभी बचती है, जब उसे बोलने वाला प्रत्येक व्यक्ति अपने हिस्से की जिम्मेदारी समझता है।

"अपना समझकर सेवा में लग जाइए" वाक्य में आदेश से अधिक

आत्मीयता है। मण्डलजी कहते हैं कि मिथिला बाहर की वस्तु नहीं, अपनी है। मैथिली बाहर की भाषा नहीं, अपनी है। अपनी चीज की सेवा के लिए पुकार या अनुमति की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। जहाँ हैं, जो साधन उपलब्ध हैं और जितनी सामर्थ्य है, वहीं से काम आरंभ किया जा सकता है।

इस विचार का सामाजिक अर्थ भी गहरा है। यदि मैथिली सबकी भाषा है, तो उसके साहित्य के केंद्र में भी सबका जीवन आना चाहिए। केवल अभिजन, मंच और स्थापित नाम नहीं; किसान, स्त्री, मजदूर, पिछड़े-वंचित समाज, नए रचनाकार, लोकगायक और लोककथा कहने वालों के अनुभवों को भी उचित स्थान मिलना चाहिए।

जिस भाषा में लोक का संपूर्ण जीवन बोलता है, उस भाषा का साहित्य भी लोक के संपूर्ण जीवन को समेटे। मैथिली की सेवा केवल भाषण, समारोह या स्मारिकाओं से पूरी नहीं होती। भाषा में नया लेखन, अच्छा प्रकाशन, नियमित पठन, बाल-साहित्य, अनुवाद, शोध और डिजिटल उपस्थिति भी आवश्यक हैं।

सेवा प्रेम से जुड़ी है। प्रेम के बिना सेवा औपचारिक बन जाती है। सद्भावना के बिना सेवा अहंकार का रूप ले सकती है। समावेश के बिना सेवा कुछ चुने हुए लोगों तक सीमित हो जाती है। मण्डलजी की सेवा-दृष्टि सबकी भागीदारी पर आधारित है। इसलिए यह दृष्टि विभाजन नहीं, मिलन का मार्ग खोलती है।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि भाषा बचाने का अर्थ केवल व्याकरण या लिपि बचाना नहीं है। भाषा बचाने का अर्थ लोक का आत्मविश्वास, सांस्कृतिक स्मृति, पारिवारिक संबंध, गाँव का अनुभव और नई पीढ़ी का भाषिक अधिकार बचाना है। जो मैथिली को अपना समझता है, उसे मैथिली बोलने वाले लोगों को भी अपना समझना होगा।

मिथिला सबकी, मैथिली सबकी, सेवा भी सबकी। यह केवल घोषणा नहीं, साझा जिम्मेदारी का संकल्प है। भाषा-प्रेम को भावुकता तक सीमित न रखकर उसे साझा श्रम, साझा प्रतिष्ठा और साझा भविष्य के रूप में जीना होगा।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 36

पुस्तक से फेसबुक तक विचार की यात्रा

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "हम अधिक-से-

अधिक एकत्र हों और अपने विचारों का आदान-प्रदान करते रहें।" (पृ. 44)

यह पंक्ति मण्डलजी की साहित्यिक-सांस्कृतिक दृष्टि का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। उनके लिए साहित्य केवल पुस्तक के पृष्ठों में बंद रहने की वस्तु नहीं है। साहित्य तभी जीवित रहता है, जब वह पाठक तक पहुँचता है, संवाद बनता है, प्रश्न उठाता है और समाज के भीतर विचारों की हलचल पैदा करता है।

इस दृष्टि से पुस्तक से फेसबुक तक विचार की यात्रा केवल माध्यम का परिवर्तन नहीं है। यह विचार की लोक-यात्रा है। जो विचार पहले पुस्तक के पृष्ठों में पाठक की प्रतीक्षा करता था, वह अब सामाजिक माध्यम अर्थात् सोशल मीडिया के जरिए अधिक लोगों तक पहुँच रहा है। यह पहुँच केवल प्रचार नहीं, साहित्य का लोक-संपर्क है।

मण्डलजी का गद्य इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि वह पाठक को केवल सुंदर वाक्य नहीं देता, बल्कि सोचने का धरातल देता है। वह परंपरा पर प्रश्न करता है, समाज की दूरियाँ दिखाता है, हाशिये की आवाज सुनाता है, भाषा की गरिमा पहचानता है और साहित्य की जिम्मेदारी तय करता है। ऐसे विचार यदि केवल पुस्तक के भीतर रह जाएँ, तो उनका प्रभाव सीमित हो जाएगा।

फेसबुक का खतरा यह है कि वह कई बार तात्कालिक प्रतिक्रिया, हल्की टिप्पणी और क्षणिक प्रसन्नता की जगह बन जाता है। किंतु उसी फेसबुक को यदि विचार का मंच बनाया जाए, तो वह पाठक को फिर पुस्तक की ओर मोड़ सकता है। छोटी पोस्ट के माध्यम से किसी गंभीर पुस्तक का द्वार खुल सकता है। एक पंक्ति, एक विचार या एक टिप्पणी पाठक के भीतर पूरी पुस्तक पढ़ने की जिज्ञासा जगा सकती है।

यहीं इस श्रृंखला का अर्थ स्पष्ट होता है। 'पयस्विनी' से विचार-बिंदु प्रस्तुत करने का अर्थ मण्डलजी के विचार को छोटा करना नहीं, बल्कि उसे पाठक की दिनचर्या में प्रवेश कराना है। जो पाठक तुरंत पूरी पुस्तक नहीं पढ़ सकता, वह एक पंक्ति, एक संकेत या एक विचार-बिंदु से सोचने की शुरुआत कर सकता है।

साहित्य का वास्तविक लोक-प्रसार तब होता है, जब विचार पुस्तकालय की अलमारी से निकलकर लोगों की बातचीत में आता है। जब पाठक प्रश्न करने लगता है, असहमति व्यक्त करता है, अपना अनुभव जोड़ता है और फिर मूल

पुस्तक की ओर मुड़ता है। उस क्षण साहित्य केवल लिखी हुई वस्तु नहीं रहता, समाज के भीतर चलता हुआ विचार बन जाता है।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि विचार का काम केवल लिखा जाना नहीं, समाज में चलना भी है। पुस्तक उसका आधार है और फेसबुक उसके प्रसार का एक माध्यम। किंतु लक्ष्य एक ही है- साहित्य के माध्यम से समाज के भीतर विवेक, संवाद और मनुष्य की गरिमा की चेतना जगाना।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 37

उँगली के इशारे के युग में सुस्त समाज नहीं चल सकता, वह पीछे छूट जाएगा

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "अब हम इक्कीसवीं सदी के वैज्ञानिक युग में पहुँच गए हैं। ऐसे समय में यदि बाँस की पट्टी रगड़कर आग निकालेंगे, तो उसमें बेहद समय लगेगा, जबकि अब उँगली के एक इशारे पर आग उपलब्ध है।" (पृ. 110)

यह पंक्ति बदलते समय की गति पर मण्डलजी की तीक्ष्ण दृष्टि दिखाती है। जब आधुनिक साधन सहज उपलब्ध हैं, तब पुरानी कठिन पद्धतियों के मोह में फँसे रहना समय और श्रम, दोनों की हानि है। उँगली के इशारे पर आग उपलब्ध होने के युग में बाँस की पट्टी रगड़कर आग निकालना केवल पुरानी आदत निभाना नहीं, समय की वास्तविकता से कट जाना भी है।

यह तुलना परंपरा का तिरस्कार नहीं है। मण्डलजी का आग्रह समयानुकूल साधन चुनने का है। परंपरा समाज को उसकी जड़ों से जोड़ती है, किंतु विज्ञान उसकी सामर्थ्य बढ़ाता है। बुद्धिमानी अतीत के अनुभव को सुरक्षित रखते हुए वर्तमान के साधनों का उचित उपयोग करने में है। युग बदलता है, तो काम करने की पद्धति, विचार पहुँचाने के माध्यम, संगठन के रूप और पाठक से संवाद के मार्ग भी बदलते हैं।

यहीं मण्डलजी की वैचारिक सजगता ध्यान खींचती है। ग्रामीण जीवन के परिचित बाँस, रगड़ और आग के दृश्य से वे वैज्ञानिक युग का जटिल सत्य समझा देते हैं। उनकी भाषा लोकजीवन से निकलती है, किंतु दृष्टि समय के आगे तक जाती है। सरल उदाहरण के भीतर बड़ा सामाजिक अर्थ भर देना उनके गद्य

की विशिष्ट सामर्थ्य है।

मैथिली समाज के लिए यह पंक्ति विशेष महत्त्व रखती है। अब केवल छपी हुई पुस्तकों तक सीमित रहने से भाषा-साहित्य का काम पूरा नहीं होगा। पुस्तक अपने स्थान पर आवश्यक है, किंतु उसके साथ डिजिटल पाठ, ई-पुस्तक, ऑडियो, वीडियो, ऑनलाइन गोष्ठियाँ, पाठ-समूह और सुरक्षित डिजिटल संग्रह भी चाहिए। साहित्य को पाठक तक पहुँचाने के मार्ग जितने विस्तृत होंगे, भाषा का जीवन-क्षेत्र उतना ही बढ़ेगा।

उँगली के एक इशारे से विचार हजारों लोगों तक पहुँच सकता है। मोबाइल पर कथा पढ़ी जा सकती है। दूर देश में रहने वाला मैथिल अपनी भाषा सुन सकता है। दुर्लभ पुस्तक डिजिटल रूप में नए पाठकों के हाथ तक पहुँच सकती है। जो विचार पहले सीमित गोष्ठी या अलमारी में बंद रह जाता था, वह अब व्यापक संवाद का आधार बन सकता है। प्रश्न केवल साधन उपलब्ध होने का नहीं, उसके सार्थक उपयोग का भी है।

सुस्ती केवल शरीर की नहीं होती। समाज भी सुस्त होता है, जब वह कहता है- जैसा चल रहा है, चलने दीजिए। साहित्यिक समाज तब सुस्त होता है, जब वह नए पाठक बनाने का प्रयास नहीं करता। भाषा-समाज तब सुस्त होता है, जब बच्चों की भाषा बदलती देखकर भी चुप रहता है। संस्था तब सुस्त होती है, जब वह गुट, जाति, पद, प्रतिष्ठा, आयोजन और आर्थिक लाभ की जोड़-तोड़ में फँसकर अपना मूल काम भूल जाती है। मण्डलजी की पंक्ति इसी मानसिक और संस्थागत सुस्ती के विरुद्ध चेतावनी है।

किंतु केवल गति उपलब्धि का प्रमाण नहीं है। आधुनिक साधनों का उपयोग केवल चमक दिखाने, प्रचार बढ़ाने, संख्या जुटाने अथवा 'यह बड़ा और वह बड़ा, यह पहला और वह प्रथम' जैसे नारे दोहराने का नाम नहीं है। डिजिटल माध्यम विचार को पलभर में दूर-दूर तक पहुँचा सकता है, किंतु विचार की सत्यता परखना, उसकी दिशा चुनना और समाज पर उसके प्रभाव को समझना मानवीय विवेक का काम है। सामग्री में गंभीरता, भाषा में जीवन, विचार में स्पष्टता और समाज के प्रति जिम्मेदारी होनी चाहिए। माध्यम की सार्थकता तभी है, जब वह मनुष्य को मनुष्य से जोड़े, पारस्परिक दूरी घटाए और प्रेम, सद्भावना तथा सम्मान का वातावरण बनाए। डिजिटल गति लोकजागरण, ज्ञान-विस्तार और

सार्थक सांस्कृतिक संवाद की गति बने। साधन आधुनिक हों, किंतु उनका उद्देश्य मानवीय संबंधों को मजबूत करना और समाज को बेहतर दिशा में आगे बढ़ाना हो।

आज मैथिली साहित्य के सामने बड़ा अवसर है। अब उसकी रचना भौगोलिक सीमाएँ पार करके दुनिया के किसी भी कोने में रहने वाले पाठक तक पहुँच सकती है। किंतु इसके लिए जागरूक, तत्पर और सुसंगठित समाज चाहिए। लेखक को नए माध्यमों का स्वभाव और संभावना समझनी होगी, संपादक को भाषा को सहज, स्पष्ट और प्रभावपूर्ण बनाने का दायित्व निभाना होगा, प्रकाशक को साहित्य की डिजिटल पहुँच बढ़ानी होगी और पाठक को गुणवत्तापूर्ण सामग्री को प्राथमिकता देते हुए उसके पक्ष में खड़ा होना होगा।

'पयस्विनी' हमें समझाती है कि समय बदल जाने से अपने-आप समाज नहीं बदलता। समय साधन उपलब्ध कराता है, उनका सार्थक उपयोग मनुष्य करता है। यदि मनुष्य सुस्त रहा, तो उँगली के इशारे के युग में भी समाज अँधेरे में रह सकता है। यदि वह जागरूक और कर्मशील रहा, तो छोटे और सीमित साधन भी लोकजागरण के दीप बन सकते हैं।

उँगली के इशारे के युग में सुस्त समाज नहीं चल सकता, वह पीछे छूट जाएगा। मैथिली को पढ़ने, लिखने, सुनाने, समझाने, पहुँचाने और नई पीढ़ी से जोड़ने का काम तेज, सजग और प्रेमपूर्ण ढंग से करना होगा। समय ने हमारे हाथ में आग दे दी है। अब यह हम पर निर्भर है कि उस आग से प्रकाश करें या क्षणिक चमक देखते रह जाएँ।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 38

कागज पर लिखे मूल्यों की परीक्षा साहित्यकार के व्यवहार में होती है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "आज मान लीजिए कि आप भी यही चाहते हैं कि मैथिली का कल्याण हो और मैं भी यही चाहता हूँ कि मैथिली का कल्याण हो, तब मतभेद कहाँ है? फिर मतभेद कहाँ उत्पन्न होता है? सारा मतभेद दृष्टिकोण में है..." (पृ. 44)

यह प्रश्न मतभेद के कारण खोजने के साथ साहित्यकार के सार्वजनिक आचरण पर विचार करने का मार्ग भी खोलता है। जब सबका घोषित उद्देश्य

मैथिली का कल्याण है, तब व्यक्तिगत अहंकार, आपसी विद्वेष, गुटबंदी और एक-दूसरे को कमजोर करने की प्रवृत्ति कहाँ से जन्म लेती है? यदि रचना में लोकहित का पक्ष लिया जाए, किंतु व्यवहार में निजी हित प्रधान हो जाए, तो विचार और आचरण के बीच दूरी उत्पन्न होती है।

साहित्यकार के चरित्र का अर्थ उसके निजी जीवन में अनावश्यक प्रवेश करना नहीं है। यहाँ चरित्र से आशय उसके सार्वजनिक साहित्यिक व्यवहार से है। वह असहमत व्यक्ति का सम्मान करता है या उसे शत्रु मान लेता है? आलोचना को आत्मपरीक्षण का अवसर समझता है या व्यक्तिगत अपमान? नए रचनाकार को आगे बढ़ने का अवसर देता है या अपने स्थान के भय से उसका मार्ग रोकता है? दूसरे की उपलब्धि का सम्मान करता है या उसे छोटा सिद्ध करने का प्रयास करता है? साहित्यिक चरित्र इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में दिखाई देता है।

कागज पर प्रेम, समानता, न्याय, भाईचारे और मानवीय गरिमा के पक्ष में लिखना अपेक्षाकृत सहज है। कठिन यह है कि उन्हीं मूल्यों को अपने व्यवहार में भी उतारा जाए। जो लेखक रचना में समानता का पक्षधर है, किंतु साहित्यिक जीवन में पद, प्रतिष्ठा, जाति, संस्था या निकटता के आधार पर लोगों का मूल्यांकन करता है, उसकी कथनी और करनी परस्पर विरोधी हो जाती हैं। ऐसा विरोधाभास धीरे-धीरे उसकी रचना की नैतिक विश्वसनीयता को भी कमजोर करता है।

विचार और व्यवहार में पूर्ण संगति साधना सहज नहीं है। प्रत्येक मनुष्य में सीमाएँ, चूक और अंतर्विरोध होते हैं। साहित्यकार भी इसका अपवाद नहीं। किंतु उसका विशेष दायित्व यह है कि वह अपने अंतर्विरोधों को पहचाने, आलोचना से सीखे और अपने व्यवहार को लिखे हुए मूल्यों के निकट लाने का निरंतर प्रयास करे। चूक हो जाना मानवीय है; चूक को स्वीकार न करना और उसे उचित सिद्ध करते रहना अधिक चिंताजनक है।

साहित्य समाज को केवल शब्द नहीं देता; वह जीवन-दृष्टि भी देता है। इसलिए साहित्यकार का प्रभाव उसकी रचना तक सीमित नहीं रहता। उसका आचरण नए लेखक, पाठक और संपूर्ण साहित्यिक वातावरण को प्रभावित करता है। यदि वरिष्ठ साहित्यकार उदारता, संवाद और न्यायपूर्ण व्यवहार का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, तो साहित्यिक समाज में विश्वास बढ़ता है। यदि वे

उपेक्षा, ईर्ष्या और गुटबंदी को प्रोत्साहित करते हैं, तो यह प्रवृत्ति अगली पीढ़ी तक भी पहुँचती है।

मतभेद विचार का स्वाभाविक परिणाम है। दो व्यक्ति मैथिली का कल्याण चाहते हुए भी उसके विकास के मार्ग पर असहमत हो सकते हैं। यह असहमति दोष नहीं; साहित्यिक विकास का आधार बन सकती है। दोष तब उत्पन्न होता है, जब दृष्टिकोण के अंतर को व्यक्तिगत शत्रुता में बदल दिया जाता है। स्वस्थ साहित्यिक चरित्र असहमति में भी संबंध, सम्मान और समान उद्देश्य को सुरक्षित रखता है।

साहित्यकार का वास्तविक परिचय केवल उसकी प्रकाशित पुस्तकों, पुरस्कारों या प्रशंसा से नहीं होता। यह भी देखा जाता है कि साहित्यिक जीवन में उसकी उपस्थिति कैसा वातावरण बनाती है। उससे संवाद बढ़ता है या भय? नई प्रतिभा को स्थान मिलता है या उसका मार्ग रोका जाता है? साहित्य के लोग एक-दूसरे के निकट आते हैं या और अधिक विभाजित होते हैं?

यदि मैथिली का कल्याण सबका लक्ष्य है, तो साहित्यकार की रचना और व्यवहार, दोनों में वह लक्ष्य दिखाई देना चाहिए। कागज पर लिखे मूल्य तभी पूर्ण विश्वसनीय बनते हैं, जब उनका प्रकाश साहित्यकार के सार्वजनिक आचरण में भी दिखाई देता है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 39

गुट साहित्य को सीमित करता है, साझा उद्देश्य उसका विस्तार करता है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "आज का जो कार्यक्रम हमने देखा, उसमें ठीक ही शिवकुमार बाबू ने कहा कि 'कुछ लोग समूह बनाकर...!' किंतु नहीं..., आज जिस प्रकार सभी लोग एक जगह, एक विचार और एक समस्या को स्वीकार करते हुए मैथिली के कल्याण के प्रश्न पर एकजुट हुए हैं, यदि इसी तरह आगे बढ़ते रहेंगे तो मैथिली का विकास... होकर ही रहेगा।" (पृ. 43)

यह कथन साहित्यिक गुटबंदी के विपरीत सामूहिकता का महत्त्व स्पष्ट करता है। साहित्य स्वभावतः अनेक विचारों, प्रवृत्तियों, पीढ़ियों और सृजन-पद्धतियों का क्षेत्र है। इस विविधता को समाप्त करना उचित नहीं। किंतु विविधता

के नाम पर ऐसा घेरा बना लेना भी साहित्य के हित में नहीं, जिसमें अपने लोगों की प्रत्येक रचना श्रेष्ठ और घेरे से बाहर का प्रत्येक कार्य महत्त्वहीन समझा जाए।

समान विचार या रुचि वाले लोगों का एक साथ होकर काम करना स्वाभाविक है। प्रत्येक साहित्यिक समूह गुट नहीं होता। समूह जब खुले संवाद, रचनात्मक सहयोग और साहित्य के व्यापक हित पर आधारित रहता है, तब वह साहित्य को समृद्ध करता है। किंतु जब संबंध रचना के मूल्यांकन का आधार बन जाएँ, योग्यता का स्थान पक्षधरता ले ले और साहित्यिक हित पर अपने घेरे का लाभ भारी पड़ने लगे, तब समूह गुट में बदल जाता है।

गुट अपने सदस्यों की प्रशंसा करता है, किंतु कई बार उन्हें आवश्यक आलोचना से भी वंचित कर देता है। यदि घेरे के भीतर सभी एक-दूसरे के प्रत्येक कार्य को अच्छा कहते रहें, तो रचनात्मक विकास का मार्ग बंद हो जाता है। दूसरी ओर, घेरे से बाहर के श्रेष्ठ कार्य को केवल अपना न होने के कारण उपेक्षित किया जाए, तो भाषा अच्छी रचना, प्रतिभा और नई संभावनाओं से वंचित होती है।

साहित्यिक गुटबंदी की सबसे बड़ी क्षति नए रचनाकार को होती है। उसकी रचना पढ़ने से पहले यदि यह पूछा जाए कि वह किसके निकट है, किस संस्था से जुड़ा है अथवा किस पक्ष का व्यक्ति है, तो प्रतिभा से अधिक संपर्क महत्त्वपूर्ण बन जाता है। कुछ लोगों को सहज अवसर मिलते हैं और कुछ योग्य होते हुए भी उपेक्षित रह जाते हैं। परिणामतः साहित्य के भीतर निराशा, अविश्वास और दूरी बढ़ती है।

एकजुटता का अर्थ सबके विचारों को एक रंग में रंग देना नहीं है। एकजुटता यह है कि मतभेद रहते हुए भी सबके हित से जुड़े प्रश्नों पर साथ खड़ा हुआ जाए। भाषा, साहित्य, पाठक, प्रकाशन, शिक्षा और नई पीढ़ी का हित ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं, जिन पर अलग-अलग विचारधाराओं के लोग भी सहयोग कर सकते हैं। सहमति लक्ष्य पर हो और उसे प्राप्त करने के उपायों पर खुला विचार-विमर्श चलता रहे।

मैथिली का विकास किसी एक संस्था, समूह या व्यक्ति की उपलब्धि नहीं हो सकता। एक जगह सृजन होता है, दूसरी जगह संपादन; कोई प्रकाशन करता है, कोई समीक्षा; कोई पाठक तैयार करता है, कोई भाषा-शिक्षण का कार्य करता है। ये सभी प्रयास जब परस्पर सम्मान से जुड़ते हैं, तभी साहित्यिक विकास

व्यापक रूप ग्रहण करता है।

गुटबंदी मतभेद से नहीं, असहिष्णुता से जन्म लेती है। स्वस्थ साहित्यिक समाज में आलोचना होगी, विचारों का टकराव भी होगा। किंतु उस टकराव का उद्देश्य व्यक्ति को पराजित करना नहीं, विचार को स्पष्ट और रचना को समृद्ध करना होना चाहिए। यदि असहमति के कारण संवाद बंद हो जाए, तो अंततः सभी पक्षों की क्षति होती है।

मण्डलजी का आग्रह सबको एक मत का बना देने का नहीं, मैथिली के कल्याण की साझा धरती पर एक साथ लाने का है। साहित्य की वास्तविक शक्ति बंद घेरे में नहीं, खुली सहभागिता में विकसित होती है। गुट अपने सीमित लोगों को स्थान देता है; साझा उद्देश्य संपूर्ण भाषिक समाज के लिए मार्ग खोलता है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 40

विचार-विनिमय संवाद बढ़ाता है, संवाद साहित्य को गतिशील रखता है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "इसलिए चाहूँगा कि मैथिली साहित्य में अधिक-से-अधिक कार्यक्रम हों और हम अधिक-से-अधिक एकत्र होकर अपने विचारों का आदान-प्रदान करते रहें।" (पृ. 43)

यह कथन साहित्यिक कार्यक्रम को केवल औपचारिक आयोजन नहीं, विचार-विनिमय के जीवंत स्थान के रूप में देखता है। लोग एकत्र हुए, मंच सजा, भाषण हुआ और समाचार प्रकाशित हो गया- इतने भर से कार्यक्रम का उद्देश्य पूरा नहीं होता। उसकी वास्तविक सार्थकता तब है, जब अलग-अलग अनुभव, प्रश्न और दृष्टिकोण एक-दूसरे के सामने आते हैं।

रचनाकार अपने जीवनानुभव, अध्ययन और परिवेश से एक दृष्टि अर्जित करता है। किंतु कोई एक दृष्टि जीवन के संपूर्ण सत्य को समेट नहीं सकती। संवाद उसकी सीमाओं को स्पष्ट करता है। दूसरे का विचार सुनने से अपनी मान्यताओं की परीक्षा होती है, नए प्रश्न जन्म लेते हैं और कई बार जीवन के वे पक्ष दिखाई देते हैं, जो एकाकी चिंतन में दृष्टि से छूट गए होते हैं।

विचार-विनिमय का अर्थ केवल अपनी बात कहना नहीं, दूसरे की बात धैर्यपूर्वक सुनना भी है। यदि प्रत्येक व्यक्ति केवल बोलने का अवसर खोजे और सुनने के दायित्व से बचे, तो मंच पर अनेक स्वर होने के बावजूद वास्तविक

संवाद उत्पन्न नहीं होगा। संवाद तब बनता है, जब विचार का उत्तर विचार से दिया जाए, प्रश्न को सम्मान मिले और असहमत व्यक्ति के आशय को समझने का प्रयास किया जाए।

साहित्यिक कार्यक्रमों की संख्या बढ़ना आवश्यक है, किंतु संख्या से अधिक उनकी प्रकृति महत्त्वपूर्ण है। यदि कार्यक्रम केवल सम्मान, लोकार्पण और प्रशंसा के अवसर बनकर रह जाएँ, तो उनका प्रभाव सीमित रहेगा। उनमें रचना-पाठ के साथ गंभीर समीक्षा, खुले प्रश्नोत्तर, भाषिक समस्याएँ, प्रकाशन की स्थिति, पाठक-विस्तार और नए लेखकों के मार्गदर्शन पर भी विचार होना चाहिए। ऐसे कार्यक्रम साहित्यिक समाज को आत्मपरीक्षण का अवसर देते हैं।

विचार-विनिमय पीढ़ियों को भी जोड़ता है। वरिष्ठ साहित्यकारों का अनुभव नए लेखकों को इतिहास, परंपरा और रचनात्मक अनुशासन से परिचित कराता है। नई पीढ़ी के प्रश्न वरिष्ठों को बदलते समय की संवेदना, तकनीक और अभिव्यक्ति के नवीन रूपों से जोड़ते हैं। जब दोनों पीढ़ियाँ एक-दूसरे को प्रतिद्वंद्वी नहीं, सहयात्री मानती हैं, तब साहित्यिक परंपरा गतिशील रहती है।

भाषा का विकास केवल रचनाओं की संख्या से नहीं होता। इसके लिए लेखक, संपादक, आलोचक, प्रकाशक, शिक्षक और पाठक के बीच निरंतर संबंध आवश्यक है। संवादहीन साहित्यिक समाज में अच्छी रचना को उचित पाठक नहीं मिलता, आलोचना व्यक्तिगत प्रतिक्रिया बन जाती है और अनेक उपयोगी प्रयास एक-दूसरे से अनजान रह जाते हैं। विचार-विनिमय इस दूरी को घटाता है।

साहित्यिक संवाद में विनम्रता आवश्यक है। अपने विचार को अंतिम सत्य मान लेना संवाद का द्वार बंद कर देता है। अपने से भिन्न विचार सुनना आत्मसमर्पण नहीं, बौद्धिक विस्तार है। असहमति के बीच से जो स्पष्टता निकलती है, वह एकरूप प्रशंसा से संभव नहीं। प्रश्न विचार को कमजोर नहीं करता; उसके आधार को परखता है।

मैथिली का विकास निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है और उसकी गति साहित्यिक समाज की सक्रियता पर निर्भर करती है। जितने अधिक सार्थक मिलन, रचनात्मक संवाद और निष्पक्ष विचार-विनिमय होंगे, भाषा की वैचारिक धरती उतनी ही समृद्ध होगी। केवल एक जगह एकत्र हो जाने से एकता नहीं

बनती; एक-दूसरे को सुनने, समझने और सबके दायित्व को स्वीकार करने से बनती है।

मण्डलजी साहित्यिक कार्यक्रमों की संख्या बढ़ाने के साथ उनका उद्देश्य भी स्पष्ट करते हैं। कार्यक्रम का सार मंच की ऊँचाई में नहीं, विचार के खुलेपन में है। जहाँ विचार निर्भयता से रखे जाएँ, धैर्य से सुने जाएँ और लोकहित के आधार पर परखे जाएँ, वहीं संवाद साहित्य को गतिशील बनाता है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 41

रचना फुरसत के समय का खेल नहीं, जीवन की नियमित वृत्ति है

मण्डलजी लिखते हैं- "उपन्यास और कथा लिखने का जो क्रम जीवन के आरंभ में मुझे पकड़ गया था, वह आज भी उसी तरह पकड़े हुआ है; इसलिए कौन अच्छा है और कौन बुरा, यह कैसे कहा जाए।" (पृ. 88)

यह कथन लेखन के साथ मण्डलजी के आजीवन संबंध को प्रकट करता है। कथा और उपन्यास लिखना उनके लिए कभी-कभार वाला मनोरंजन का साधन नहीं, जीवन की नियमित वृत्ति बन गया। जिस लेखन ने जीवन के आरंभ में उन्हें पकड़ लिया, वह समय, संघर्ष, सम्मान और परिवर्तन के बीच आज भी उसी तरह पकड़े हुआ है। यह निरंतरता रचनाकार की वास्तविक साधना का परिचय है।

रचना को फुरसत के समय का काम माना जाए, तो उसका समय कभी नहीं आता। परिवार, जीविका, सामाजिक दायित्व, बीमारी और जीवन की छोटी-बड़ी समस्याएँ हमेशा रहेंगी। लेखक यदि सभी काम समाप्त हो जाने के बाद बचे हुए समय की प्रतीक्षा करेगा, तो रचना लगातार स्थगित होती रहेगी। सृजन के लिए समय अपने-आप नहीं मिलता; जीवन की व्यस्तताओं के बीच उसे निर्धारित करना पड़ता है।

नियमितता का अर्थ प्रतिदिन निश्चित संख्या में पृष्ठ लिखना मात्र नहीं है। नियमितता का अर्थ जीवन को लेखक की दृष्टि से देखते रहना भी है। लोगों की बातें सुनना, घटनाओं को स्मरण रखना, शब्दों के अर्थ पर ध्यान देना, आवश्यक बातें नोट करना, पढ़ना, विचार करना और लिखी हुई सामग्री को फिर से परखना- ये सभी रचना-प्रक्रिया के हिस्से हैं। कागज पर शब्द न उतरते हुए भी

लेखक के भीतर अनुभव और विचार रचना का रूप ग्रहण करते रहते हैं।

कथा या उपन्यास जीवन के सतही विवरण से नहीं बनते। पात्र का स्वभाव, सामाजिक संबंध, घटनाओं के कारण, भाषा की लय और अनुभव का भीतरी सत्य समझने के लिए धैर्य चाहिए। नियमित अभ्यास लेखक को सामान्य घटनाओं के भीतर छिपे असामान्य अर्थ को देखने की सामर्थ्य देता है। जो घटना दूसरे लोगों के लिए बीता हुआ क्षण है, वही सजग लेखक के लिए कथा या उपन्यास का आधार और कथासूत्र बन सकती है।

अर्थोपार्जन और सृजन के बीच संतुलन बनाना भी आवश्यक है। जीविका लेखक को जीवन का धरातल देती है और सृजन उस जीवन को अर्थ प्रदान करता है। दोनों को एक-दूसरे का विरोधी मानने से समस्या बढ़ती है। जीवन के आवश्यक कार्यों के साथ अध्ययन और सृजन के लिए नियमित समय रखा जाए, तो कठिन परिस्थितियों में भी रचनात्मक क्रम बना रह सकता है।

नियमित लेखन के साथ पुनर्लेखन भी जुड़ा है। पहली बार लिखी प्रत्येक पंक्ति अंतिम नहीं होती। कथ्य स्पष्ट है या नहीं, भाषा पात्र और परिवेश के अनुकूल है या नहीं, अनावश्यक विस्तार कहाँ है और कौन-सी आवश्यक बात छूट गई है- ये सब पुनर्लेखन में देखा जाता है। प्रेरणा रचना का आरंभ करा सकती है, किंतु अनुशासन उसे सुगठित और पूर्ण बनाता है।

विश्राम, चुप्पी और अस्थायी विराम को रचनात्मक निष्क्रियता नहीं समझना चाहिए। खेत को जिस प्रकार हर समय नहीं जोता जाता, किंतु उसके भीतर नई उपज की तैयारी चलती रहती है, उसी प्रकार लेखक के विराम में अनुभव, अध्ययन और विचार संचित होते रहते हैं। प्रश्न यह नहीं कि प्रत्येक दिन कितना लिखा गया; मूल प्रश्न यह है कि जीवन, समाज और भाषा से लेखक का संबंध जीवित है या नहीं।

रचना फुरसत के समय का खेल नहीं, जीवन की नियमित वृत्ति है। प्रसिद्धि, पुरस्कार या आमंत्रण की प्रतीक्षा से लेखन का क्रम नहीं बनता; अध्ययन, अवलोकन, समय-संयम, निरंतर अभ्यास और पुनर्लेखन से बनता है। जो लेखक जीवन की व्यस्तताओं के बीच अपनी रचनात्मक वृत्ति को जीवित रखता है, उसकी कलम अवसर की प्रतीक्षा नहीं करती; अपनी तैयारी और निरंतरता से अवसर बनाती है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 42

समाज से कटकर साहित्य का वास्तविक स्वरूप नहीं समझा जा सकता

मण्डलजी लिखते हैं- "जब तक साहित्य समाज की वस्तु नहीं बनेगा, तब तक कौन किससे क्या कह रहा है, यह कैसे समझ में आएगा?" (पृ. 150)

यह पंक्ति साहित्य के सामाजिक अस्तित्व की बुनियादी शर्त सामने रखती है। जब तक साहित्य समाज के बीच नहीं पहुँचेगा, तब तक लोग कैसे समझेंगे कि कौन क्या कह रहा है, किसके पक्ष में बोल रहा है, किस जीवन का प्रतिनिधित्व कर रहा है और उसके कथन का वास्तविक आधार क्या है? साहित्य का अर्थ, पक्ष, लक्ष्य और प्रभाव तभी स्पष्ट होते हैं, जब वह समाज के अनुभव और विवेक, दोनों के सामने आता है।

यहाँ 'समाज की वस्तु' का अर्थ बाजार में बिकने वाली वस्तु नहीं, सार्वजनिक सांस्कृतिक संपदा है। समाज की वस्तु बनने का अर्थ है कि साहित्य लोगों की पहुँच में आए, उनके जीवन से संवाद करे, प्रश्न उत्पन्न करे और अपने सत्य की सामाजिक जाँच होने दे। लोकप्रियता इसकी एकमात्र कसौटी नहीं है। कोई रचना भले ही सीमित लोगों तक पहुँचे, फिर भी वह समाज के जीवन के किसी गहरे सत्य को प्रकट करके व्यापक सामाजिक महत्त्व प्राप्त कर सकती है। मूल प्रश्न यह है कि वह समाज से जीवित संबंध बनाती है या साहित्यिक घेरे के भीतर अपनी ही प्रशंसा-आलोचना के चक्र में घूमती रहती है।

साहित्य केवल लेखक का निजी भाव या व्यक्तिगत उपलब्धि नहीं है। वह समाज के अनुभव का सार्वजनिक रूप है। लोगों के दुःख-सुख, प्रेम, श्रम, संघर्ष, असमानता, अपमान, आत्मसम्मान और भविष्य की आकांक्षाएँ साहित्य में शब्द पाती हैं। लेखक का अनुभव निजी हो सकता है, किंतु रचना बनने के बाद वह पाठक के अनुभव से जुड़ता है। इसी जुड़ाव में उसका अर्थ विस्तार पाता है और उसका सामाजिक जीवन आरंभ होता है।

साहित्य के समाज की संपदा बनने का अर्थ यह भी है कि किसान उसमें अपने श्रम की गरिमा देख सके, मजदूर अपनी थकान के कारण पहचान सके, स्त्री अपने अनसुने अनुभवों की प्रतिध्वनि पा सके, पिछड़े-वंचित लोग अपनी मनुष्यता और आत्मसम्मान की उपस्थिति अनुभव कर सकें और नई पीढ़ी अपने

समय के प्रश्नों से साक्षात्कार कर सके। पाठक जब कहता है, "यह हमारे जीवन की बात है," तभी साहित्य लेखक के निजी संसार से निकलकर सामूहिक चेतना का हिस्सा बनता है।

यदि साहित्य केवल मंच, संस्था या सीमित साहित्यिक मंडली तक रहेगा, तो समाज उसका वास्तविक स्वरूप कैसे समझेगा? यदि रचना की चर्चा संबंध, गुट और सुविधा के हिसाब से चलेगी, तो पाठक उसका मूल्य किस आधार पर समझेगा? यदि भाषा केवल प्रतिष्ठित लोगों की अभिव्यक्ति बनकर रह जाएगी, तो सामान्य लोगों का जीवन उसमें प्रवेश कैसे करेगा? समाज से कटकर रचना बनेगी, तो उसका मूल्यांकन भी सामाजिक सत्य के बजाय व्यक्तिगत संबंधों से संचालित होने लगेगा।

"कौन किससे क्या कह रहा है" वाक्य साहित्यिक संसार में उपस्थित इसी अस्पष्टता को प्रकट करता है। जब साहित्य समाज की संपदा नहीं बनता, तब प्रशंसा और आलोचना, दोनों की विश्वसनीयता संदिग्ध हो जाती है। कौन किसे आगे बढ़ा रहा है, किसे दबा रहा है, किसे साहित्यकार घोषित कर रहा है और किसे उपेक्षित रख रहा है, समाज इसकी वास्तविकता नहीं समझ पाता। रचना पीछे छूट जाती है और संबंध मूल्य का स्थान ले लेते हैं।

साहित्य की सामाजिकता इसी बंद घेरे को तोड़ती है। रचना पाठक के हाथ में जाती है, शिक्षक पढ़ाते हैं, विद्यार्थी प्रश्न करते हैं, गोष्ठियों में सहमति-असहमति सामने आती है और भिन्न जीवनानुभव वाले लोग उसका अर्थ खोलते हैं। धीरे-धीरे रचना का मूल्य किसी एक व्यक्ति या गुट के निर्णय से नहीं, समाज के विकसित होते विवेक से तय होने लगता है। यह प्रक्रिया धीमी हो सकती है, किंतु साहित्य को दीर्घजीवी बनाती है।

मण्डलजी का साहित्य इसी कारण महत्त्वपूर्ण है कि वे समाज को केवल विषय के रूप में नहीं चुनते, बल्कि समाज के भीतर जीते हुए अपनी रचनात्मक दृष्टि अर्जित करते हैं। उनके पात्र सजावटी आकृतियाँ नहीं, अपने श्रम, विवशता, स्वाभिमान और आकांक्षाओं के साथ जीवन-संघर्ष करते लोग हैं। उनके प्रश्न अकादमिक शब्द-जाल नहीं, जीवन की वास्तविक उलझनों से उपजे प्रश्न हैं। उनकी भाषा मंचीय आडंबर की भाषा नहीं, लोक की साँस, श्रम, अनुभव और स्मृति से बनी भाषा है। इसलिए उनका साहित्य समाज से संबंध का केवल दावा

नहीं करता, अपने संपूर्ण रचना-संसार से उस संबंध का जीवित प्रमाण प्रस्तुत करता है।

आज लिखना, प्रकाशित करना और प्रचार करना पहले से सहज हुआ है। किंतु प्रकाशित हो जाना और समाज की संपदा बन जाना एक ही बात नहीं है। साहित्य समाज का तब बनता है, जब लोग उसे पढ़ते हैं, अपने जीवन से मिलाते हैं, प्रश्न करते हैं, असहमत होते हैं और फिर भी उसे संवाद के योग्य मानते हैं। सामाजिकता प्रचार की संख्या से नहीं, अर्थपूर्ण पाठकीय संबंध से बनती है।

समाज से कटकर साहित्य का वास्तविक स्वरूप समझ में नहीं आता। साहित्य समाज का बनेगा, तभी उसका सत्य, पक्ष, गरिमा और उपयोगिता स्पष्ट दिखाई देंगे। मण्डलजी का कथन साहित्य को बंद घेरे से निकालकर लोगों के बीच लाने का आह्वान है। साहित्य जब समाज के अनुभव से जुड़ता है, तब वह केवल लिखा हुआ शब्द नहीं रहता, सामाजिक चेतना और आत्मपरीक्षण का प्रकाश बन जाता है।

‘पयस्विनी’ से विचार-बिंदु 43

एक आँख समाज पर, तभी कलम सार्थक

मण्डलजी लिखते हैं- “शुभेच्छु साहित्यकार का दायित्व है कि वह एक आँख समाज पर रखे और दूसरी कागज-कलम पर; तभी केवल मैथिली साहित्य का ही नहीं, मिथिला का भी कल्याण होगा।” (पृ. 150)

यह पंक्ति साहित्यकार के दायित्व को अत्यंत सहज बिंब में परिभाषित करती है- एक आँख समाज पर और दूसरी कागज-कलम पर। ये दो अलग-अलग दृष्टियाँ नहीं, एक ही रचनात्मक चेतना के दो पक्ष हैं। समाज लेखक को जीवन का सत्य देता है और कागज-कलम उस सत्य को साहित्यिक रूप देने का माध्यम बनते हैं। दोनों दृष्टियाँ जब एक बिंदु पर मिलती हैं, तभी रचना जीवन से जुड़ी और कलात्मक रूप से समर्थ बनती है।

समाज पर आँख रखने का अर्थ दूर से उसका निरीक्षण करना या रचना का विषय खोजने के लिए उसका उपयोग करना नहीं है। इसका अर्थ समाज के बीच रहना, उसकी बदलती चाल समझना, चुप्पी का अर्थ जानना और लोगों के सुख-दुःख में अपनी सहभागिता अनुभव करना है। खेत-पथार, घर-आँगन,

विद्यालय, बाजार, कार्यालय और बस्ती में जो जीवन घटित हो रहा है, साहित्यकार की दृष्टि उससे विमुख नहीं रहनी चाहिए। समाज के टूटते संबंध, बढ़ती दूरी, श्रम की उपेक्षा, भाषा-संकोच और मनुष्य के भीतर बची प्रेम-सद्भावना की संभावनाएँ, ये सब उसकी चेतना में उपस्थित रहें।

किंतु केवल समाज को देखने से साहित्य नहीं बनता। अनुभव को कलात्मक रूप देने के लिए भाषा, अध्ययन, अनुशासन, संवेदना और विचार की स्पष्टता चाहिए। कागज-कलम पर आँख रखने का अर्थ इसी सृजनात्मक उत्तरदायित्व से है। रचनाकार अनुभव को अनगढ़ रूप में नहीं छोड़ देता। वह उसके भीतर का अर्थ खोजता है, घटना और कारण के संबंध को पहचानता है, चुप्पी की भाषा सुनता है और जीवन के बिखरे संकेतों को ऐसा रूप देता है कि पाठक के मन में नई विचार और संवेदना जाग सके।

समाज की दृष्टि के बिना शिल्प आत्ममुग्ध प्रदर्शन बन सकता है और शिल्प-साधना के बिना सामाजिक अनुभव केवल विवरण बनकर रह सकता है। साहित्य को दोनों चाहिए- जीवन की तपन भी और अभिव्यक्ति का संयम भी; समाज का सत्य भी और कला का अनुशासन भी। मण्डलजी का दो आँखों वाला बिंब इसी संतुलन की रचनात्मक आवश्यकता बताता है।

इस कथन का नैतिक केंद्र 'शुभेच्छु साहित्यकार' शब्द में है। शुभेच्छा केवल सदिच्छा या कोमल भावना नहीं है। इसका अर्थ समाज के कल्याण के प्रति जिम्मेदार दृष्टि है। शुभेच्छु साहित्यकार समाज के दोष देखता है, किंतु मनुष्य का अपमान नहीं करता। वह अन्याय का विरोध करता है, किंतु घृणा को अपना लक्ष्य नहीं बनाता। वह टूटन दिखाता है, किंतु टूटन बढ़ाने के बजाय संवाद, न्याय और सद्भावना की संभावना खोजता है।

ऐसे साहित्यकार की आलोचना प्रेमहीन प्रहार नहीं होती। उसका प्रेम भी अंध समर्थन नहीं होता। शुभेच्छा उसे सत्य कहने का साहस देती है और मनुष्य की गरिमा बचाए रखने का विवेक भी। वह समाज की कमजोरी छिपाता नहीं, किंतु उसे इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि समाज अपनी विकृति पहचानकर सुधार के मार्ग पर बढ़ सके। उसकी कलम दंड देने नहीं, चेतना जगाने की आकांक्षा रखती है।

इसी कारण मण्डलजी साहित्यकार के दायित्व को केवल मैथिली

साहित्य के विकास तक सीमित नहीं रखते। वे साहित्य के प्रश्न को मिथिला की भाषा, समाज, संस्कृति और समग्र कल्याण से जोड़कर देखते हैं। उनके लिए मैथिली साहित्य और मिथिला का जीवन दो अलग क्षेत्र नहीं, बल्कि एक-दूसरे को अर्थ, शक्ति और पहचान देने वाला जीवित संबंध हैं।

यदि साहित्य मिथिला के वास्तविक जीवन, श्रम-संस्कृति, संघर्ष, असमानता, लोकबुद्धि, भाषा-बोध, पारिवारिक-सामाजिक संबंध और बदलती आकांक्षाओं का साक्षी नहीं बनेगा, तो मैथिली केवल लिखे-पढ़े शब्दों की भाषा बनकर रह जाएगी, लोकजीवन की सक्रिय भाषा नहीं। ऐसा साहित्य अपने समाज की स्मृति, पीड़ा, प्रश्न और संभावनाओं से धीरे-धीरे कटता जाएगा। भाषा पुस्तक और मंच पर तो दिखाई देगी, किंतु लोक के दैनिक जीवन, विचार और संवाद में उसका स्थान कमजोर पड़ता जाएगा।

दूसरी ओर, यदि मैथिली साहित्य समाज के गहरे अनुभवों, श्रमशील लोगों की आवाज, उपेक्षित समुदायों के आत्मसम्मान और बदलते समय के प्रश्नों को स्वर देगा, तो वह केवल भाषा को बचाएगा नहीं, समाज को अपने इतिहास, वर्तमान और भविष्य को समझने की दृष्टि भी देगा। साहित्य लोगों को अपनी स्थिति पहचानने, अपनी सामर्थ्य समझने और सामाजिक संबंधों को अधिक मानवीय बनाने की प्रेरणा देता है। इसलिए मैथिली साहित्य के विकास का अर्थ केवल पुस्तकों की संख्या, लेखक की प्रसिद्धि या संस्थागत विस्तार नहीं, मिथिला के जीवन को अधिक सजग, संवेदनशील, न्यायपूर्ण और आत्मचेतस बनाना भी है।

साहित्य समाज के भीतर दबे प्रश्नों को सार्वजनिक करता है। वह लोगों को अपने जीवन, व्यवहार और व्यवस्था पर सोचने का अवसर देता है। आत्मसम्मान जगाता है, अन्याय की पहचान कराता है और भाषा-प्रेम को भावुक घोषणा से निकालकर जीवन के व्यवहार में लाता है। साहित्य के माध्यम से समाज अपनी स्मृति बचाता है और भविष्य की दिशा भी खोजता है। इस अर्थ में साहित्यकार की कलम भाषा की सेवा के साथ समाज की सेवा करती है।

आज शब्द लिखना, सजाना और प्रसारित करना पहले से सहज हुआ है। तकनीक शब्द जुटा सकती है, भाषा-रूप बना सकती है और अभिव्यक्ति की गति बढ़ा सकती है, किंतु सामाजिक उत्तरदायित्व अपने-आप नहीं उठा सकती।

किस पीड़ा को स्वर देना है, किस अन्याय का विरोध करना है, आलोचना को घृणा से कैसे बचाना है और मनुष्यों के बीच प्रेम तथा सद्भावना का आधार कैसे मजबूत करना है, यह निर्णय सजग मानवीय विवेक को ही लेना पड़ता है।

साहित्यकार समाज के ऊपर बैठकर उसका निर्णय सुनाने वाला व्यक्ति नहीं है। वह समाज के भीतर रहकर, उसे समझकर, उसके हित में और उसके प्रति उत्तरदायी होकर लिखने वाला व्यक्ति है। उसकी कलम लोगों पर बोझ नहीं, उनके अनुभव की भाषा बने। उसकी रचना समाज को केवल दोष न दिखाए, बल्कि अपने भीतर की सामर्थ्य और परिवर्तन की संभावना भी पहचानने में सहायता करे।

एक आँख समाज पर, तभी कलम सार्थक। समाज की गहरी समझ और सृजन की सजग साधना जब शुभेच्छा से जुड़ती है, तभी साहित्य भाषा को गरिमा और समाज को दिशा देता है। ऐसा साहित्यकार केवल साहित्य को समृद्ध नहीं करता, समाज के भीतर मानवीयता, न्याय, प्रेम और सद्भावना की चेतना भी जगाता है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 44

समाज से जुड़ा साहित्य ही आंदोलन बनता है

मण्डलजी लिखते हैं- "बंगाल की धरती पर साहित्यिक कार्यक्रम जिस प्रकार समाज और सामाजिक गतिविधियों से जुड़कर सामाजिकता के साथ सघन रूप में चलते रहे हैं..." (पृ. 110)

यह पंक्ति साहित्यिक सक्रियता का वास्तविक आधार बताती है। यदि साहित्य समाज से जुड़ा नहीं है, तो वह गिनी-चुनी पुस्तकों और आयोजनों तक सीमित रह जाता है। किंतु जब साहित्य लोकजीवन, सामाजिक गतिविधियों, भाषा-सेवा, पाठक-निर्माण और सामूहिक चेतना से जुड़ता है, तब वह आंदोलन बनता है। मण्डलजी साहित्य को मंच की सीमाओं से बाहर समाज के बीच सक्रिय देखना चाहते हैं।

साहित्यिक कार्यक्रम का अर्थ केवल सभागार, अध्यक्षता, माल्यार्पण, भाषण और तस्वीरें नहीं है। कार्यक्रम तभी सार्थक है, जब वह समाज में प्रश्न जगाए, पाठक बनाए, नए लेखकों को जोड़े, लोगों के अनुभव सुने और भाषा

तथा संस्कृति के प्रति जिम्मेदारी बढ़ाए। जिस आयोजन के बाद समाज में कोई हलचल न उठे, वह औपचारिक घटना भर है। जो आयोजन लोगों के मन में विचार और कर्म की प्रेरणा छोड़ जाए, वही आंदोलन का आरंभ है।

मण्डलजी बंगाल का उदाहरण देकर साहित्य की सामाजिक सघनता की ओर संकेत करते हैं। जहाँ साहित्य समाज से जुड़ा रहता है, वहाँ पाठक केवल दर्शक नहीं, सहभागी बनता है। रचनाकार केवल मंच पर नहीं रहता, लोगों के बीच पहुँचता है। पुस्तक केवल अलमारी में नहीं रहती, बल्कि पाठ, चर्चा, बहस, गीत, नाटक, अध्ययन और सामाजिक संवाद का हिस्सा बनती है।

मैथिली-समाज के लिए यह पंक्ति बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि मैथिली साहित्य गिने-चुने लोगों के दायरे में रहेगा, तो उसका प्रभाव सीमित रहेगा। भाषा-प्रेम यदि केवल विशेष अवसरों के भाषण में रहेगा, तो नई पीढ़ी तक नहीं पहुँचेगा। यदि साहित्य समाज के दुःख, श्रम, प्रेम, सद्भावना, अन्याय और आशा को नहीं छुएगा, तो पाठक उसे अपना कैसे मानेगा?

समाज से जुड़ा साहित्य लोगों को जोड़ता है। किसान उसमें अपना जीवन देखता है, मजदूर अपना स्वर पाता है, स्त्री के दबे अनुभवों को अभिव्यक्ति मिलती है, बच्चा अपनी भाषा पर भरोसा करता है और नया रचनाकार अपना मार्ग पहचानता है। ऐसा साहित्य केवल पढ़ा नहीं जाता, जिया जाता है। वह समाज के भीतर सक्रिय विचार बन जाता है।

आज के समय में साहित्यिक आंदोलन का रूप भी बदल रहा है। गोष्ठी चाहिए, किंतु उसके साथ पाठक-चर्चा भी चाहिए। पुस्तक चाहिए, किंतु उसके साथ डिजिटल पहुँच भी चाहिए। मंच चाहिए, किंतु उसके साथ गाँव, विद्यालय, परिवार, सोशल मीडिया, पाठ-समूह और नई पीढ़ी से जीवित संबंध भी चाहिए। साहित्य को समाज से जुड़ा रखने के ये नए रूप हैं।

साहित्य समाज का विश्वस्त साथी तभी बनता है, जब वह लोकहित के पक्ष में खड़ा रहता है। वह केवल प्रशंसा नहीं करता, प्रश्न भी उठाता है। वह केवल स्मृति नहीं सँजोता, भविष्य की तैयारी भी करता है। वह केवल संवेदना नहीं जगाता, सामाजिक दिशा भी दिखाता है। मण्डलजी की साहित्य-दृष्टि का मूल इसी सामाजिक सक्रियता में है।

समाज से जुड़ा साहित्य ही आंदोलन बनता है। जो साहित्य लोगों के बीच

जाता है, लोगों से सीखता है, उन्हें आवाज देता है और उन्हें साथ लेकर चलता है, वही भाषा को दीर्घ जीवन देता है। मैथिली को ऐसे ही साहित्यिक-सामाजिक आंदोलन की आवश्यकता है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 45

साहित्य का मूल स्वर प्रेम और भाईचारा है; इसकी साधना स्वयं से शुरू होती है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "सबको, अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को जीवन की शुरुआत स्वयं से करनी चाहिए।" (पृ. 75)

यह पंक्ति मण्डलजी के जीवन-दर्शन और साहित्यिक दृष्टि, दोनों को एक साथ खोलती है। वे मनुष्य को बाहरी सहारे और दूसरे की पहल पर निर्भर न रहने की शिक्षा देते हैं। प्रत्येक मनुष्य को जीवन की शुरुआत स्वयं से करनी चाहिए। सुनने में यह बात सरल है, किंतु इसमें व्यापक सामाजिक शक्ति निहित है। जो मनुष्य स्वयं से आरंभ करता है, वह अपने जीवन की जिम्मेदारी समझता है। जब समाज का प्रत्येक मनुष्य इस जिम्मेदारी को स्वीकार करता है, तब सामाजिक परिवर्तन का मार्ग खुलता है।

स्वयं से शुरू करने का अर्थ स्वार्थ या समाज से अलगाव नहीं है। इसका अर्थ आत्मबोध और आत्मपरीक्षण है। अपनी स्थिति देखें, अपनी सामर्थ्य पहचानें, अपनी कमजोरी समझें, अपने समाज का सत्य स्वीकार करें और जहाँ खड़े हैं, वहीं से काम आरंभ करें। यह विचार मनुष्य को समाज से काटता नहीं, बल्कि उसे भीतर से तैयार करता है, जिससे वह परिवार, समाज और लोकजीवन के प्रति अधिक सजग, उत्तरदायी और सक्रिय बन सके।

प्रेम और भाईचारा दूर के भाषणों से शुरू नहीं होते। उनकी पहली परीक्षा अपने घर, परिवार, पड़ोस और निकट के संबंधों में होती है। मतभेद के समय हम कैसी भाषा बोलते हैं, कमजोर मनुष्य के साथ कैसा व्यवहार करते हैं, विरोधी विचार रखने वाले को कितना सम्मान देते हैं और दूसरे के दुःख में किस प्रकार खड़े होते हैं, इन्हीं सब से प्रेम की वास्तविकता प्रकट होती है। जो अपने निकट के मनुष्य को सम्मान नहीं दे सकता, उसका दूर के समाज के लिए प्रेम का दावा खोखला हो जाता है।

इसी कारण साहित्य के मूल मूल्यों की साधना साहित्यकार को भी स्वयं से शुरू करनी होती है। साहित्यकार समाज को प्रेम, न्याय, करुणा और भाईचारे के जो मूल्य देता है, उसकी मानवीय दृष्टि में भी उन मूल्यों की उपस्थिति आवश्यक है। साहित्यकार पूर्ण या त्रुटिहीन मनुष्य हो, यह अपेक्षा नहीं है। किंतु उसके भीतर आत्मपरीक्षण, अपनी भूल स्वीकार करने का साहस और टूटते संबंधों को जोड़ने की आकांक्षा अवश्य होनी चाहिए।

साहित्यकार की पहचान केवल भाषा की चमक, कृतियों की संख्या या चर्चा के विस्तार से नहीं होती। देखना यह है कि उसकी रचना मनुष्य को जोड़ती है या तोड़ती है, पीड़ित की गरिमा को मजबूत करती है या उसके दुःख को प्रदर्शन की वस्तु बनाती है। वास्तविक साहित्यकार वह है, जो अन्याय का विरोध करते हुए भी घृणा को लक्ष्य न बनाए, संघर्ष की कठिन परिस्थितियों में भी मानवीयता बचाए रखे और मनुष्य के भीतर प्रेम तथा भाईचारे की संभावना जगाए।

साहित्य की गरिमा इसी में है कि वह मनुष्य को छोटा नहीं करता, उसे भीतर से बड़ा बनाता है। वह रोष को अँधेरा नहीं बनने देता, बल्कि उसे विवेक की दिशा देता है। वह संघर्ष को घृणा में नहीं बदलने देता, बल्कि उसे न्याय, करुणा और मानवीय संबंधों से जोड़ता है। मण्डलजी का साहित्य समाज के टूटे संबंधों को देखता है, किंतु संबंधों की संभावना नहीं छोड़ता।

मण्डलजी का साहित्य पाठक को दया माँगना नहीं सिखाता। वह उसे अपनी अवस्था पहचानने, परिस्थिति समझने, श्रम का मूल्य स्वीकार करने और जीवन की दिशा चुनने का साहस देता है। उनके पात्र कई बार अभाव, संकट और सामाजिक दबाव के बीच रहते हैं। फिर भी उनके भीतर किसी-न-किसी रूप में जीजिविषा का बीज बचा रहता है। साहित्य इसी बीज को चेतना, आत्मसम्मान और संघर्ष की शक्ति देता है।

"स्वयं से जीवन शुरू करना" व्यक्तिगत जागरण का आरंभ है, किंतु उसका लक्ष्य सामाजिक पुनर्निर्माण है। जो मनुष्य स्वयं जागेगा, वही पारिवारिक संबंधों को जिम्मेदारी से देखेगा। जो परिवार जागेगा, वही समाज में सहयोग और सद्भावना को मजबूत करेगा। जो समाज जागेगा, वही अपनी भाषा, साहित्य, संस्कृति, समानता और न्याय को जीवित रखेगा। इसी क्रम में आत्मजागरण सामाजिक जागरण का आधार बन जाता है।

साहित्य की वास्तविक शक्ति दुःख के दृश्य दिखाकर क्षणिक भावुकता जगाने में नहीं, मनुष्य के भीतर संवेदना और विवेक जागृत करने में है। वह दुःख के कारणों को समझने की दृष्टि देता है, पीड़ित मनुष्य की गरिमा को सामने लाता है और प्रेम, करुणा तथा भाईचारे के आधार पर समाधान की दिशा सोचने की प्रेरणा देता है। वह अन्याय को अलग-थलग घटना मानकर नहीं छोड़ता, बल्कि उसके पीछे सक्रिय असमान व्यवस्था और संबंधों की टूटन को सामने लाता है।

इस दृष्टि से मण्डलजी का साहित्य लोक-जागरण का साहित्य है। वह लोकजीवन को करुण दृश्य बनाकर नहीं छोड़ता। वह गाँव के साधारण मनुष्य में सोचने और निर्णय लेने का अधिकार देखता है। खेत में श्रम करने वाले हाथों में समाज की निर्माणकारी शक्ति देखता है। स्त्री के अनकहे अनुभवों में परिवार और लोक-संस्कृति की स्मृति देखता है। उपेक्षित समाज के जीवन में न्यायपूर्ण भविष्य का आधार देखता है।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि साहित्य की शक्ति अलंकार, शोर या प्रसिद्धि में नहीं है। उसकी शक्ति इस बात में है कि वह पाठक को अपने जीवन के सामने खड़ा करे, उसे सोचने के लिए बाध्य करे, उसके भीतर दबे साहस को जगाए और उसे समाज के प्रेम, भाईचारे तथा उत्तरदायित्व से जोड़े।

साहित्य का मूल स्वर प्रेम और भाईचारा है। इसकी साधना स्वयं से, अपने विचार, भाषा, व्यवहार और संबंधों से शुरू होती है। मण्डलजी का लेखन मनुष्य को भीतर से जगाता है, किंतु उसे अकेला नहीं छोड़ता। वह आत्मजागरण को परिवार के दायित्व, समाज के प्रति प्रेम और न्यायपूर्ण परिवर्तन से जोड़ता है। साहित्य की वास्तविक गरिमा इसी में है कि वह मनुष्य को मनुष्य के विरुद्ध नहीं, मनुष्य के पक्ष में खड़ा करता है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 46

जीवन के प्रति प्रेम साहित्य है, जीवन की लड़ाई उसका सृजन

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "प्रचार कम हो या अधिक, मूल प्रश्न यह है कि हमारी रचना से कितने लोगों को जीवन की दिशा मिली। जो कोई उसे अपने जीवन में उतारकर लाभ उठाता है, वही उपलब्धि है। वह जितने अधिक लोगों के जीवन में उतरेगी, उतना ही अपने सृजन को सार्थक

समझकर हमें संतोष होगा।" (पृ. 73)

यह कथन मण्डलजी की साहित्य-दृष्टि के मूल केंद्र को स्पष्ट करता है। उनके लिए साहित्य की सफलता प्रचार, प्रशंसा, पुरस्कार अथवा बिक्री की संख्या से निर्धारित नहीं होती। मूल प्रश्न यह है कि रचना मनुष्य के जीवन में कौन-सा प्रकाश लाई। उसने पाठक की सोच को कितना व्यापक बनाया, अन्याय पहचानने की दृष्टि दी या नहीं और अपने जीवन को अधिक मानवीय बनाने की प्रेरणा जगाई या नहीं।

साहित्य जीवन के प्रति प्रेम है, क्योंकि साहित्यकार जीवन को गहराई से देखता है। वह मनुष्य के सुख में प्रसन्न होता है, उसके दुःख से विचलित होता है, उसके संघर्ष को समझता है और उसके भीतर छिपी संभावनाओं को शब्द देता है। किंतु यह प्रेम केवल भावुकता नहीं है। जो प्रेम अन्याय को देखते हुए भी चुप रहता है, वह अधूरा रह जाता है। वास्तविक प्रेम मनुष्य के जीवन को अपमान, शोषण, भय और अंधविश्वास से मुक्त देखना चाहता है।

इसी कारण साहित्य-सृजन जीवन की लड़ाई भी है। यह लड़ाई मनुष्य के विरुद्ध नहीं, मनुष्य को छोटा बनाने वाले विचारों, मूल्य-बोध और व्यवस्थाओं के विरुद्ध है। यह जातीय ऊँच-नीच, सामंती दंभ, आर्थिक स्वार्थ, स्त्री के अवमूल्यन, श्रम की उपेक्षा, धार्मिक भय, बौद्धिक जड़ता और संस्थागत अन्याय के विरुद्ध वैचारिक संघर्ष है। साहित्य इस लड़ाई में तलवार नहीं उठाता। वह प्रश्न, संवेदना, तर्क, अनुभव और मानवीय संबंधों के माध्यम से अन्याय की वास्तविकता सामने लाता है।

मण्डलजी की साहित्यिक दृष्टि उनके जीवन से अलग नहीं है। उनका यथार्थवाद केवल रचना-पद्धति नहीं, जीवन और समाज को देखने की दृष्टि है। खेती और ग्रामजीवन से जुड़ाव ने उन्हें श्रम का मूल्य समझाया। जनवादी संघर्ष ने शोषण की सामाजिक संरचना पहचानने की दृष्टि दी। सूदखोर महाजनों और जमींदारी प्रभुत्व के विरुद्ध दीर्घ संघर्ष से उन्हें यह अनुभव हुआ कि व्यवस्था बदलना किसी एक दिन की घटना नहीं, बल्कि लंबी सामाजिक और वैचारिक प्रक्रिया है।

लगभग पैंतीस वर्षों की सामाजिक सक्रियता में अर्जित अनुभव उनकी रचनात्मक ऊर्जा का आधार बना। कथा, उपन्यास, नाटक, कविता और विचार

के माध्यम से उन्होंने ग्रामजीवन की उलझनों और परिवर्तन की संभावनाओं को अभिव्यक्ति दी। इस अर्थ में साहित्य उनके लिए जीवन से पलायन नहीं, लोक-अनुभव को व्यापक मानवीय अर्थ देने का माध्यम बना।

उनकी यथार्थवादी दृष्टि दुःख के चित्रण तक सीमित नहीं रहती। वह उस दुःख के पीछे सक्रिय आर्थिक, सामाजिक और वैचारिक कारणों को भी उजागर करती है। वे गरीबी को भाग्य का परिणाम मानकर नहीं छोड़ते, उसके आर्थिक और सामाजिक आधार को सामने लाते हैं। जातीय भेद को परंपरा का स्वाभाविक हिस्सा मानकर स्वीकार नहीं करते, उसके भीतर सक्रिय प्रभुत्व-बोध को पहचानते हैं। अंधविश्वास को आस्था का नाम देकर उसका बचाव नहीं करते, बल्कि उसे ज्ञान, स्वास्थ्य और मानवीय स्वतंत्रता की कसौटी पर परखते हैं। स्त्री की पीड़ा को परिवार का निजी विषय मानकर उपेक्षित नहीं करते, बल्कि उसे जन्म देने वाली सामाजिक संरचना की ओर दृष्टि ले जाते हैं।

इसी कारण उनकी रचना उपदेशात्मक कथनों तक सीमित नहीं रहती। पात्रों की परिस्थिति, निर्णय, संवाद और पारस्परिक संबंधों के माध्यम से सामाजिक सत्य धीरे-धीरे खुलता है। पाठक दुःख देखता है, किंतु उसके साथ उस दुःख को जन्म देने वाले कारण और उसे बदलने की संभावना भी समझता है। यथार्थ की यह कलात्मक प्रस्तुति उनके विचार को केवल अवधारणा नहीं रहने देती, उसे जीवन का अनुभव बना देती है।

मण्डलजी का साहित्य पाठक पर पूर्वनिर्धारित उत्तर नहीं थोपता, बल्कि उसे आत्मपरीक्षण की स्थिति तक लाता है। पात्रों के निर्णय, दुविधा और संघर्ष के साथ चलते हुए पाठक यह सोचने लगता है कि उसका अपना व्यवहार किन मूल्यों के पक्ष में खड़ा है। इसी कारण उनकी रचना पाठ समाप्त हो जाने के बाद भी प्रश्न के रूप में मन के भीतर जीवित रहती है।

ये सभी प्रश्न उनके साहित्य को जीवन की वास्तविकताओं से जोड़ते हैं। उनकी रचनाओं में किसान, मजदूर, स्त्री, दलित, गरीब और अन्य उपेक्षित मनुष्य करुणा के निष्क्रिय पात्र नहीं रहते। वे अपने अनुभव, ज्ञान, श्रम और संघर्षशीलता के बल पर परिवर्तन के सक्रिय वाहक के रूप में उभरते हैं। मण्डलजी उन्हें दया की दृष्टि से नहीं देखते, बल्कि उनके जीवनानुभव के भीतर प्रवेश कर उनकी मानवीय गरिमा, बुद्धि और आत्मबल को पहचानते हैं।

उनकी मानवीय पक्षधरता किसी एक वर्ग की पीड़ा तक सीमित नहीं रहती। किसान का श्रम, स्त्री का आत्मसम्मान, दलित की समानता, गरीब का अधिकार और प्रश्न उठाने वाले की स्वतंत्रता एक ही नैतिक धरातल पर जुड़ते हैं। यह दृष्टि बताती है कि न्याय खंड-खंड में स्थापित नहीं होता। एक मनुष्य की गरिमा दूसरे की गरिमा से जुड़ी रहती है और किसी एक वर्ग का अपमान अंततः संपूर्ण समाज की मानवीयता को कमजोर करता है।

साहित्यकार के जीवन और साहित्य के बीच दूरी बढ़ने से रचना की विश्वसनीयता कमजोर पड़ती है। यदि साहित्यकार रचना में समानता का समर्थन करे, किंतु जीवन में ऊँच-नीच माने; श्रम का महत्त्व लिखे, किंतु श्रमिक का अपमान करे; स्वतंत्रता का पक्ष ले, किंतु संस्था के भीतर उठते प्रश्नों का विरोध करे, तो उसकी कथनी और करनी अलग-अलग हो जाती हैं। मण्डलजी की विशिष्टता यह है कि उनकी साहित्यिक दृष्टि जीवन-संघर्ष से विकसित हुई है। इसलिए उनके शब्द केवल वैचारिक कथन नहीं रहते, जीवनानुभव से अर्जित विश्वास बन उठते हैं।

जीवनानुभव, मानवीय प्रेम और वैचारिक दृढ़ता के इस मेल के कारण उनका साहित्य अन्याय का विरोध करते हुए भी मनुष्य-विरोधी नहीं बनता। वह शोषण की संरचना को उजागर करता है, किंतु पात्रों के भीतर आत्मबोध, प्रतिरोध और परिवर्तन की संभावना भी बचाए रखता है। संवेदना उसका आरंभ है, विवेक उसकी पद्धति और न्यायपूर्ण जीवन उसकी दिशा।

रचना की वास्तविक उपलब्धि तब बनती है, जब पाठक उसे पढ़कर केवल प्रभावित न रह जाए, बल्कि अपने जीवन, व्यवहार और सामाजिक दायित्व पर पुनर्विचार करे। प्रचार रचना का नाम लोगों तक पहुँचा सकता है, किंतु उसकी सार्थकता उस जीवन-दिशा में है, जो पाठक को अपने विवेक से निर्णय लेने और अधिक मानवीय आचरण की ओर बढ़ने की प्रेरणा देती है। इस अर्थ में मण्डलजी का सृजन जीवन के प्रति प्रेम और जीवन को न्यायपूर्ण बनाने का सतत प्रयास, दोनों है।

मण्डलजी का साहित्य इसी जीवन-दिशा की खोज है। वह पाठक को किसी महंत का अनुयायी नहीं बनाता, बल्कि उसे अपने विवेक से जीवन और समाज को देखने की सामर्थ्य देता है। सार्थक साहित्य आसन की ऊँचाई नहीं,

आचरण की सच्चाई देखता है; प्रचार की चमक नहीं, कर्म की उपयोगिता परखता है; और मनुष्य को प्रभुत्व के मार्ग पर नहीं, प्रेम, न्याय और समानता के मार्ग पर आगे बढ़ाता है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 47

विचारों के संघर्ष में साहित्य सबसे प्रभावशाली अस्त्र

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "दुनिया के नक्शे पर जिसे शीतयुद्ध (Cold War) कहा गया, वही वैचारिक संघर्ष है। उसके लिए साहित्य प्रमुख अस्त्र है।" (पृ. 78)

यह कथन साहित्य की सामाजिक शक्ति और ऐतिहासिक भूमिका को स्पष्ट करता है। दुनिया के बड़े परिवर्तन केवल युद्ध, शासन-परिवर्तन अथवा कानून बनने से नहीं हुए हैं। उनके पीछे मनुष्य की सोच, विश्वास, मूल्यों और भविष्य-दृष्टि का संघर्ष भी सक्रिय रहा है। कोई व्यवस्था तब तक चलती रहती है, जब तक लोगों की चेतना में उसके स्वाभाविक और उचित होने का विश्वास बना रहता है। इसलिए समाज में गहरे परिवर्तन के लिए बाहरी व्यवस्था के साथ मनुष्य की सोच बदलना भी आवश्यक है।

वैचारिक संघर्ष का अर्थ केवल दो राजनीतिक विचारधाराओं का टकराव नहीं है। परिवार, समाज, धर्म, शिक्षा, संस्कृति और साहित्य, सभी जगह पुराने और नए विचारों के बीच संघर्ष चलता रहता है। एक ओर जन्म के आधार पर ऊँच-नीच, सामंती दंभ, स्त्री-पुरुष असमानता, श्रम की उपेक्षा और अंधविश्वास हैं, तो दूसरी ओर समानता, न्याय, स्वतंत्रता, विवेक और वैज्ञानिक दृष्टि। यह संघर्ष बाहरी टकराव से अधिक गहरा है, क्योंकि इसका वास्तविक क्षेत्र मनुष्य की सोच, विश्वास और चेतना है।

सामंती व्यवस्था कमजोर पड़ जाने के बाद भी सामंती मानसिकता जीवित रह सकती है। आधुनिक साधनों का उपयोग करते हुए भी लोग पुराने प्रभुत्व-बोध से संचालित हो सकते हैं। कानून समानता की घोषणा कर सकता है, किंतु व्यवहार में जाति, लिंग, संपत्ति और पद के आधार पर भेदभाव जारी रह सकता है। बाहरी व्यवस्था बदल जाने मात्र से मनुष्य के भीतर बैठे संस्कार नहीं बदलते। जब तक परिवर्तन उसकी सोच, विश्वास और व्यवहार में नहीं उतरता,

तब तक समाज के मूल संबंधों में वास्तविक बदलाव नहीं आता।

साहित्य मनुष्य की इसी भीतरी चेतना में प्रवेश करता है। वह आज्ञा नहीं देता, किंतु प्रश्न उठाता है। वह पाठक पर विचार नहीं थोपता, बल्कि जीवन का ऐसा यथार्थ सामने लाता है, जिसे देखने के बाद पाठक अपनी मान्यताओं, विश्वासों और व्यवहार पर पुनर्विचार करने लगता है। कथा शोषित मनुष्य के जीवन के भीतर ले जाती है, उपन्यास सामाजिक संबंधों की जटिलता खोलता है, कविता संवेदना को जागृत करती है और नाटक विचारों के टकराव को जीवित रूप में प्रस्तुत करता है।

साहित्य को अस्त्र कहने का अर्थ उसे घृणा, प्रतिशोध अथवा हिंसा का साधन बनाना नहीं है। साहित्य मनुष्य के शरीर पर नहीं, उसके भीतर बैठे अज्ञान, पूर्वाग्रह, भय, अन्याय-बोध के अभाव और वैचारिक ठहराव पर प्रहार करता है। उसकी वास्तविक शक्ति तर्क, संवेदना, अनुभव और जीवन-सत्य से उत्पन्न होती है। वह मनुष्य के विरुद्ध नहीं, मनुष्य को छोटा बनाने वाले विचारों, मान्यताओं और व्यवस्थाओं के विरुद्ध खड़ा होता है।

मण्डलजी की रचनाओं में यह वैचारिक संघर्ष किसी अमूर्त सिद्धांत के रूप में नहीं आता। वह खेत, घर, परिवार, विद्यालय, धार्मिक स्थल, साहित्यिक संस्था और गाँव के सामाजिक संबंधों के बीच जीवित रूप में प्रकट होता है। किसान के श्रम का अवमूल्यन, स्त्री की स्वतंत्रता पर रोक, जाति के आधार पर अपमान, गरीब की विवशता, धर्म के नाम पर भय और संस्थाओं में पद का दुरुपयोग उनके साहित्य में केवल अलग-अलग घटनाएँ नहीं रहते। ये सब समाज के भीतर सक्रिय उन विचारों और मान्यताओं के रूप में पहचाने जाते हैं, जो अन्याय और प्रभुत्व को बनाए रखते हैं।

उनकी रचनाओं में किसान, मजदूर, स्त्री, दलित, गरीब और अन्य उपेक्षित मनुष्य केवल दया या करुणा के पात्र नहीं रहते। वे अपने अनुभव, ज्ञान, श्रम और स्वाभिमान के बल पर व्यवस्था से प्रश्न करते हैं और परिवर्तन के सक्रिय वाहक के रूप में उभरते हैं। इस रूप में मण्डलजी का साहित्य विचार को जीवन से और जीवन को उसके वास्तविक संघर्ष से जोड़ता है।

साहित्य का प्रभाव हमेशा तुरंत दिखाई नहीं देता। कोई रचना पढ़ते ही शासन अथवा समाज बदल नहीं जाता। किंतु वह पाठक के भीतर प्रश्न का एक

बीज रोप सकती है। वही प्रश्न धीरे-धीरे विवेक का रूप ग्रहण करता है, विवेक व्यवहार में परिवर्तन लाता है और बदला हुआ व्यवहार नए सामाजिक संस्कार का आधार बनता है। साहित्य की वास्तविक शक्ति इसी धीमे, किंतु गहरे और दीर्घकालीन परिवर्तन में है।

हर लिखी हुई सामग्री ऐसी वैचारिक शक्ति अर्जित नहीं करती। जो साहित्य अन्याय पर पर्दा डालता है, प्रभुत्व का महिमामंडन करता है अथवा जाति-धर्म के आधार पर मनुष्य को एक-दूसरे के विरोध में खड़ा करता है, वह परिवर्तन का मार्ग नहीं खोलता। साहित्य की सार्थकता तभी प्रकट होती है, जब उसका पक्ष मनुष्य की स्वतंत्रता, समानता, न्याय, श्रम और गरिमा के साथ रहता है।

जो समाज प्रश्न उठाने की क्षमता खो देता है, वह अपने परिवर्तन की संभावना भी कमजोर कर लेता है। साहित्य असहमति, आत्मपरीक्षण और नई संभावनाओं के द्वार खोलता है। वह लोगों को पूर्वनिर्धारित उत्तरों का अनुयायी नहीं बनाता, बल्कि अपने विवेक से प्रश्न समझने और उत्तर खोजने की सामर्थ्य देता है। इसलिए विचारों के संघर्ष में साहित्य की विजय किसी विरोधी को समाप्त करना नहीं, मनुष्य के भीतर मानवीयता, न्याय-बोध और विवेक विकसित करना है।

‘पयस्विनी’ से विचार-बिंदु 48

रचना की दशा-दिशा अच्छी रहेगी, तो साहित्य की धारा बनेगी ही

‘पयस्विनी’ में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- “जिस प्रकार उत्तर की ओर स्थित पहाड़ों से निकलने वाली छोटी-छोटी धाराएँ दक्षिण की ओर बहती हुई नदी-नालों में मिलती हैं, आगे बढ़कर गंगा तक पहुँचती हैं और अंततः समुद्र में समाहित हो जाती हैं, उसी प्रकार यदि साहित्य अर्थात् रचना की दशा-दिशा अच्छी रहेगी, तो साहित्य की धारा बनेगी ही। यह विश्वास है।” (पृ. 79)

यह उपमा साहित्य-सृजन के विकास को प्रकृति के सहज बिंब से स्पष्ट करती है। पहाड़ से निकलने वाली छोटी धारा आरंभ में क्षीण दिखाई देती है। उसे यह पता नहीं होता कि आगे चलकर उसका विस्तार कितना होगा, किंतु वह निरंतर बहती रहती है। मार्ग में दूसरी धाराओं से मिलती है, बाधाओं को पार करती है और अपने जल को व्यापक प्रवाह से जोड़ते हुए नदी बन जाती है। अंततः

वही जल गंगा से होकर समुद्र तक पहुँचता है।

इसी प्रकार कोई रचना आरंभ में छोटी और सीमित हो सकती है। किंतु यदि उसकी दशा अच्छी है, दिशा स्पष्ट है और उसका आधार जीवन-सत्य है, तो वह अकेली नहीं रहती। वह पाठक के अनुभव में प्रवेश करती है, समान चेतना की दूसरी रचनाओं से जुड़ती है और धीरे-धीरे व्यापक साहित्यिक धारा का अंग बनती है। रचना के आकार से अधिक महत्त्वपूर्ण उसकी जीवन-दृष्टि है। छोटी कथा, कविता अथवा विचार-बिंदु भी सामाजिक चेतना में दीर्घ प्रभाव छोड़ सकते हैं।

रचना की दशा का संबंध उसकी आंतरिक गुणवत्ता से है। विषय की सार्थकता, जीवन का गहरा अवलोकन, भाषा की स्वाभाविकता, संवेदना की प्रामाणिकता, विचार की स्पष्टता और कलात्मक गठन मिलकर रचना की दशा निर्धारित करते हैं। केवल शब्दों का समूह रचना नहीं बनता। शब्द जब अनुभव, चिंतन और जीवन-सत्य से जुड़ते हैं, तभी वे पाठक की चेतना में प्रवेश करने की सामर्थ्य अर्जित करते हैं।

रचना की दिशा का अर्थ है कि वह किसके पक्ष में खड़ी है और समाज को किस ओर ले जाना चाहती है। वह मनुष्य की स्वतंत्रता बढ़ाती है या भय को मजबूत करती है? समानता का मार्ग खोलती है या ऊँच-नीच को स्वाभाविक मानती है? विवेक जगाती है या अंधविश्वास को बल देती है? श्रम का सम्मान करती है या प्रभुत्व का महिमामंडन करती है? इन प्रश्नों के उत्तर से रचना की दिशा निर्धारित होती है।

अच्छी दशा, किंतु अनुचित दिशा रचना को कलात्मक चमक दे सकती है, मानवीय सार्थकता नहीं। उसी प्रकार उचित दिशा होते हुए भी कमजोर रचना-विन्यास विचार को प्रभावी रूप में पाठक तक नहीं पहुँचा सकता। साहित्य की धारा तब बनती है, जब जीवन के प्रति उत्तरदायित्व और रचनात्मक कौशल एक-दूसरे से जुड़ते हैं। विचार रचना को दिशा देता है और कला उसे प्रभावी, पठनीय तथा दीर्घजीवी बनाती है।

अच्छी दिशा केवल अच्छे भावों का नाम नहीं है। इसके लिए जीवन का गहरा अध्ययन, सामाजिक यथार्थ की समझ, भाषा की ईमानदारी और मनुष्य के प्रति उत्तरदायित्व आवश्यक है। लोकहितकारी उद्देश्य तभी विश्वसनीय बनता

है, जब संवेदना अनुभव से, विचार विवेक से और उद्देश्य कलात्मक अभिव्यक्ति से जुड़ता है। जीवन की वास्तविकताओं को समझे बिना रचना भावुक उपदेश बनकर रह सकती है।

जिस प्रकार धारा बनने के लिए जल की निरंतरता आवश्यक है, उसी प्रकार साहित्य का निर्माण नियमित अध्ययन, लेखन, आत्मपरीक्षण और समाज से जीवित संबंध के आधार पर होता है। साहित्यकार के जीवन में उपेक्षा, आलोचना, प्रकाशन का अभाव, संस्थागत पक्षपात और आर्थिक कठिनाइयाँ आ सकती हैं। किंतु प्रवाह और दिशा बने रहें, तो धारा बाधाओं के बीच भी नया मार्ग खोज लेती है। उसी प्रकार सृजन का विश्वास रचनाकार को निरंतर आगे बढ़ाता रहता है।

छोटी-छोटी धाराएँ मिलकर बड़ा प्रवाह बनाती हैं। उसी प्रकार कोई साहित्य केवल एक लेखक के बल पर विकसित नहीं होता। अनेक क्षेत्रों, वर्गों, पीढ़ियों और अनुभवों से आए रचनाकार अपने-अपने जीवन-सत्य को शब्द देते हैं। पाठक, संपादक, आलोचक, प्रकाशक और सांस्कृतिक कार्यकर्ता भी इस प्रवाह के निर्माण में भाग लेते हैं। प्रत्येक स्वर अपने क्षेत्र की मिट्टी, भाषा, अनुभव और शैली की विशिष्टता साथ लाता है। साहित्यिक धारा प्रतियोगिता से नहीं, विविध और सार्थक योगदानों के संगम से समृद्ध होती है।

लेखक का काम समुद्र के आकार की चिंता करना नहीं, अपने स्रोत को निर्मल रखना, रचना की दशा निखारना, दिशा स्पष्ट करना और निरंतर प्रवाहित रहना है। दशा-दिशा अच्छी रहेगी, तो रचना अपना मार्ग खोजेगी, दूसरी सार्थक रचनाओं से जुड़ेगी और साहित्य की धारा बनेगी ही।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 49

मूल्यांकन समय करेगा, साहित्यकार सृजन करता रहेगा

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं-

"किसी रचना का मूल्यांकन समय करता है। रचना समयानुकूल है या नहीं, यह समय ही आँक सकता है। रही पुरस्कार की बात? प्रेमचन्द जैसे उपन्यास-सम्राट और कलम के जादूगर को कौन-सा पुरस्कार मिला था? किंतु उन्होंने अपने श्रम को निरर्थक कहाँ समझा? वे अंतिम साँस तक सेवा करते

रहे।” (पृ. 81)

यह कथन साहित्यिक मूल्यांकन, पुरस्कार और सृजन के वास्तविक उद्देश्य के बीच का अंतर स्पष्ट करता है। किसी रचना को तत्काल प्रशंसा, प्रचार अथवा पुरस्कार मिलना उसकी उपलब्धि हो सकती है, किंतु साहित्यिक महत्त्व का अंतिम प्रमाण नहीं। समय रचना को तात्कालिक चर्चा और प्रभाव से बाहर निकालकर बार-बार परखता है। प्रत्येक नई पीढ़ी उसे अपने अनुभव, प्रश्न और सामाजिक आवश्यकताओं के आधार पर पढ़ती है। जो रचना इस पुनर्पाठ में भी अर्थवान बनी रहती है, वही समय की कसौटी पर अपनी सार्थकता प्रमाणित करती है।

समयानुकूलता का अर्थ केवल अपने समय के चर्चित विषयों पर लिखना नहीं है। मूल प्रश्न यह है कि रचना अपने युग के जीवन-सत्य, अंतर्विरोध, दुःख, संघर्ष और संभावनाओं को कितनी गहराई से पहचानती है। प्रचलित विषयों का आकर्षण समय के साथ समाप्त हो सकता है, किंतु जीवन के मूल प्रश्नों को ईमानदारी से सामने लाने वाली रचना अपने युग की सीमा पार करके अगली पीढ़ियों के लिए भी अर्थवान बनी रहती है।

समय का मूल्यांकन तुरंत नहीं होता। अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाओं को अपने युग में उचित स्थान नहीं मिलता, क्योंकि साहित्यिक संस्थाएँ, प्रचार-माध्यम अथवा प्रभावशाली समूह उनके पक्ष में नहीं होते। दूसरी ओर, संबंध, प्रचार अथवा पुरस्कार के बल पर कुछ सामान्य रचनाओं को तत्काल अधिक महत्त्व मिल सकता है। किंतु यह स्थिति स्थायी नहीं रहती। तात्कालिक प्रभाव कमजोर पड़ने के बाद रचना अपनी आंतरिक सामर्थ्य के आधार पर परखी जाती है।

इसी कारण साहित्यकार के श्रम को केवल तत्काल परिणाम से नहीं मापा जा सकता। लेखन ऐसा व्यापार नहीं है, जिसमें प्रत्येक श्रम का प्रत्यक्ष प्रतिफल निश्चित हो। साहित्यकार अपने समाज के अनुभव, स्मृति, प्रश्न, संघर्ष और भविष्य की आकांक्षाओं को शब्द देता है। उसकी रचना अपने समय में सीमित पाठकों तक पहुँच सकती है, किंतु यदि उसमें जीवन-सत्य है, तो वह बाद में नए पाठक खोज लेती है। प्रत्येक रचना अंतिम उपलब्धि नहीं, निरंतर सृजन-यात्रा का एक कदम है।

मण्डलजी प्रेमचन्द का उदाहरण देकर इसी सृजनात्मक निष्ठा को स्पष्ट

करते हैं। प्रेमचन्द का साहित्यिक महत्त्व किसी पुरस्कार से निर्धारित नहीं हुआ। उनकी रचनाएँ भारतीय समाज की विषमता और मानवीय संघर्ष को ऐसे रूप में अभिव्यक्त करती हैं कि आज भी पाठक अपने समाज पर विचार करने के लिए बाध्य होता है। पुरस्कार का अभाव उनके श्रम को निरर्थक नहीं बना सका। वे अंतिम साँस तक साहित्य-सृजन को समाज-सेवा के रूप में करते रहे।

पुरस्कार साहित्यकार के लिए सम्मान और प्रोत्साहन अवश्य है। योग्य रचना को मिला पुरस्कार समाज का ध्यान महत्त्वपूर्ण साहित्य की ओर आकृष्ट करता है। किंतु जब पुरस्कार सृजन का मूल लक्ष्य बन जाता है, तब रचनाकार की दृष्टि जीवन से हटकर मान्यता देने वाली संस्थाओं की ओर केंद्रित होने का खतरा बढ़ता है। मण्डलजी का कथन पुरस्कार का विरोध नहीं, उसे उचित स्थान देने का आग्रह है। पुरस्कार मिले तो उसका सम्मान किया जाए, न मिले तो सृजन को निरर्थक न माना जाए।

रचनाकार का वास्तविक दायित्व निरंतर अध्ययन करना, जीवन को समझना, अपनी दृष्टि की समीक्षा करना और समाज के प्रति ईमानदारी से लिखते रहना है। मूल्यांकन की चिंता सृजन पर इतनी भारी न पड़े कि लेखक की ऊर्जा लेखन के बजाय मान्यता जुटाने में लग जाए। "अंतिम साँस तक सेवा" का अर्थ अपनी सृजनात्मक सामर्थ्य को लोकजीवन के हित में लगाना है।

समय रचना का मूल्यांकन करेगा। साहित्यकार का काम समय के निर्णय की प्रतीक्षा करना नहीं, अपने वर्तमान को गहराई से समझते हुए निरंतर सृजन करना है। पुरस्कार एक क्षण का सम्मान हो सकता है, किंतु जीवन से जुड़ा साहित्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी पाठकों की चेतना में जीवित रहता है।

'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 50

समाज की साँस जब तक चलेगी, साहित्य की धारा तब तक बहेगी

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "साहित्य समाज से जुड़ी चीज है। जैसा समाज है, वैसा साहित्य है। समाज रहेगा तो साहित्य रहेगा ही। इसलिए संभावना है और बनी ही रहेगी।" (पृ. 112)

यह कथन साहित्य के उद्गम, स्वरूप और भविष्य को अत्यंत सहज शब्दों में स्पष्ट करता है। साहित्य किसी एक लेखक, संस्था, पुरस्कार अथवा युग की

निजी संपत्ति नहीं है। उसका मूल स्रोत समाज है। समाज साहित्य को विषय के साथ भाषा, संवेदना, कल्पना और दृष्टि भी देता है। मनुष्य जिन शब्दों में हँसता, रोता, प्रेम करता, विरोध करता और भविष्य की कल्पना करता है, साहित्य उसी भाषिक और सामाजिक जीवन से जन्म लेता है। जब तक मनुष्य अपने अनुभव, संघर्ष, स्मृति और सपनों के साथ जीवन जीता रहेगा, तब तक साहित्य की आवश्यकता और संभावना बनी रहेगी।

"जैसा समाज है, वैसा साहित्य है" का अर्थ यह नहीं कि साहित्य समाज का निष्क्रिय दर्पण मात्र है। साहित्य समाज का रूप दिखाता है, किंतु उसके भीतर छिपे प्रश्न, अंतर्विरोध और संभावनाएँ भी सामने लाता है। वह केवल यह नहीं कहता कि समाज ऐसा है। वह यह प्रश्न भी उठाता है कि समाज ऐसा क्यों है, इसे बेहतर कैसे बनाया जा सकता है और इस परिवर्तन में मनुष्य की भूमिका क्या होगी।

समाज बदलता है, तो साहित्य के विषय, रूप, भाषा और अभिव्यक्ति के माध्यम भी बदलते हैं। मौखिक परंपरा से लिखित पुस्तक, पत्र-पत्रिकाओं से डिजिटल माध्यम और एकांत पाठ से सार्वजनिक संवाद तक साहित्य अपना रूप बदलता रहा है। प्रत्येक पीढ़ी प्रेम, न्याय, स्वतंत्रता, समानता, श्रम, परिवार, प्रकृति और सामाजिक संबंधों को अपने समय की दृष्टि से पुनः देखती है। माध्यम बदलते हैं, अनुभव नए अर्थ ग्रहण करते हैं और साहित्य अभिव्यक्ति के नए मार्ग खोजता है।

नए रचनाकार के लिए अवसर बाहर से दिया जाने वाला उपहार नहीं है। समाज के भीतर साहित्य की संभावना हमेशा उपस्थित रहती है। बदलता ग्रामजीवन, सामाजिक असमानता, प्रवास, तकनीक से उत्पन्न नए संबंध और मनुष्य का भीतरी अकेलापन, इन सबमें अनकही कथाएँ और अनुत्तरित प्रश्न उपस्थित हैं। आवश्यकता उन्हें देखने की दृष्टि, समझने की संवेदना और व्यक्त करने के सृजनात्मक साहस की है।

मण्डलजी की साहित्य-दृष्टि में व्यक्ति केवल समाज की इकाई नहीं, दुनिया की इकाई भी है। एक मनुष्य का जीवन अपने परिवार, गाँव अथवा भाषा तक सीमित नहीं रहता। उसका श्रम, विचार, निर्णय और व्यवहार व्यापक मानवीय जीवन से जुड़ता है। उसी प्रकार अपनी मिट्टी और भाषा से जन्मा साहित्य

स्थानीय अनुभवों को अभिव्यक्त करते हुए भी व्यापक मानवीय प्रश्नों से जुड़ सकता है। साहित्य की व्यापकता अपनी जड़ों से कटने में नहीं, अपने विशिष्ट अनुभव के भीतर मानवीय सत्य को पहचानने में है।

साहित्य और समाज का संबंध एकतरफा नहीं है। समाज साहित्य को जन्म देता है और साहित्य समाज की स्मृति, आत्मबोध और भविष्य-दृष्टि का निर्माण करता है। वह वर्तमान की विसंगतियों पर प्रश्न उठाता है, बीते अनुभवों को सुरक्षित रखता है और आगे की संभावनाओं की कल्पना करता है। इस रूप में साहित्य समाज की चेतना को केवल व्यक्त नहीं करता, उसे विकसित भी करता है।

जब तक जीवन में दुःख, अन्याय, प्रेम, श्रम और परिवर्तन की आकांक्षा रहेगी, तब तक साहित्य उनका अर्थ खोजता और उन्हें शब्द देता रहेगा। साहित्य की संभावना इसी कारण अक्षय है, क्योंकि समाज और जीवन, दोनों परिवर्तनशील और सृजनशील हैं।

समापन : सृजन से जीवन तक

✳

दूसरे खंड के पचास विचार-बिंदुओं की यात्रा 'हम किसके रचनाकार हैं?' प्रश्न से आरंभ होकर 'समाज की साँस जब तक चलेगी, साहित्य की धारा तब तक बहेगी' निष्कर्ष तक पहुँचती है। आरंभ का प्रश्न रचनाकार की सामाजिक पहचान और पक्षधरता खोजता है; अंतिम विचार साहित्य के मूल स्रोत जीवन को पहचानता है। इन दोनों छोरों के बीच शब्द, दृष्टि, सत्ता, हाशिया, पाठक, साहित्यिक संस्था, भाषा, डिजिटल माध्यम, प्रतिष्ठा, नियमितता, संघर्ष और समय-मूल्यांकन से जुड़े अनेक प्रश्न सामने आते हैं। किंतु ये प्रश्न अलग-अलग दिशाओं में बिखरे हुए नहीं हैं; सभी एक-दूसरे से जुड़ते हुए सृजन और समाज के गहरे संबंध को स्पष्ट करते हैं। अंततः सभी एक ही मूल संबंध को खोलते हैं : समाज सृजन के भीतर कैसे प्रवेश करता है और सृजन फिर मनुष्य के जीवन तथा समाज को कैसे प्रभावित करता है?

इस खंड का प्रत्येक विचार-बिंदु 'पयस्विनी' से चुने गए किसी विचार-सूत्र से आरंभ हुआ है। मूल कथन यहाँ अंतिम निष्कर्ष नहीं, विचार का प्रवेश-द्वार है। वह द्वार खुलते ही प्रश्न वर्तमान जीवन के विस्तृत क्षेत्र में प्रवेश करता है। कहीं रचनाकार की पक्षधरता सामने आती है, कहीं साहित्यिक व्यवस्था के अंतर्विरोध, कहीं भाषिक आत्मविश्वास, कहीं पाठक की भूमिका और कहीं समय की कसौटी। मूल कथन बीज देता है; विमर्श उसे वर्तमान अनुभव की मिट्टी में रोपकर उसके अर्थ और संभावनाओं को विकसित करता है।

'हम किसके रचनाकार हैं?' केवल लेखक के नाम, भाषा या साहित्यिक रचना-रूप का प्रश्न नहीं है। यह उसकी सामाजिक दृष्टि और नैतिक दायित्व का प्रश्न है। रचनाकार किसका जीवन देखता है, किसकी आवाज सुनता है, किसकी पीड़ा, श्रम और संघर्ष को महत्त्व देता है और किसका अनुभव उसकी दृष्टि से बाहर रह जाता है, इन सब से उसकी वास्तविक पहचान बनती है। नाम के साथ

उपाधि, पुरस्कार और संस्थागत पद जुड़ सकते हैं, किंतु रचनाकार की मूल पहचान उसकी दृष्टि, पक्षधरता और रचनात्मक ईमानदारी से बनती है।

कोई रचनाकार समाज से बाहर नहीं बनता। भाषा समाज से मिलती है, अनुभव जीवन और संबंधों से बनते हैं, स्मृति परिवार तथा समुदाय से आकार पाती है और कल्पना की सामग्री भी देखे, सुने, भोगे और जाने-समझे संसार से जुड़ी रहती है। लेखक एकांत में लिख सकता है, किंतु उसका एकांत भी सामाजिक अनुभव से रिक्त नहीं होता। वह जो शब्द चुनता है, जिन घटनाओं को महत्त्व देता है, जो पात्र रचता है और जिस भविष्य की कल्पना करता है, उन सबमें उसका समय और समाज किसी-न-किसी रूप में उपस्थित रहते हैं। इसी अर्थ में समाज सृजन का बाहरी विषय नहीं, उसका अंतर्निहित आधार है।

जगदीश प्रसाद मण्डलजी का जीवन इस संबंध को समझने के लिए एक सजीव संदर्भ देता है। उनका साहित्य जीवन से अलग किसी निरपेक्ष संसार में उत्पन्न नहीं हुआ; खेती, मिट्टी, श्रम, गाँव के संबंध, सामाजिक विषमता और परिवर्तन के संघर्ष उनके अनुभव की मूल भूमि रहे हैं। व्यवस्थित साहित्य-सृजन जीवन के बाद के चरण में आरंभ हुआ, किंतु उसकी वैचारिक तैयारी बहुत पहले से जीवन के भीतर चलती रही। खेत, गाँव और सामाजिक संघर्ष में अर्जित अनुभव जब शब्द का रूप ग्रहण करने लगे, तब साहित्य उनकी पहली कर्मभूमि से दूरी नहीं बना; बल्कि उसी कर्मभूमि के अनुभव, चेतना और संघर्ष का रचनात्मक विस्तार बन गया।

यहाँ 'स्वनिर्मित' का अर्थ किसी एक व्यक्ति की आत्मसफलता नहीं है। मण्डलजी का जीवन परिवार, गाँव, किसान, सहकर्मी, सामाजिक संघर्ष, पाठक और साहित्यिक सहयोग के बीच विकसित हुआ। मिली हुई परिस्थितियों को उन्होंने केवल निष्क्रिय रूप से स्वीकार नहीं किया; उन्हें समझा, उन पर प्रश्न किए और अपने कर्म की दिशा चुनी। स्वनिर्माण का अर्थ सामूहिक योगदान को नकारना नहीं, बल्कि परिस्थिति, अनुभव और सहयोग को विवेकपूर्ण तथा जिम्मेदार कर्म में बदलना है। समाज मनुष्य को आरंभिक आधार देता है, किंतु उस आधार पर जीवन की दिशा कैसे विकसित होगी, यह उसके निर्णय, श्रम और व्यवहार पर भी निर्भर करता है।

रचनाकार के लिए समाज को गहरी दृष्टि से देखना और अनुभव को

कलात्मक अनुशासन में ढालना, दोनों आवश्यक हैं। केवल सामाजिक उद्देश्य अपने-आप प्रभावी साहित्य नहीं बना सकता, उसी प्रकार केवल शिल्प की चमक जीवन से कट जाने पर रचना को मानवीय सार्थकता नहीं दे सकती। अनुभव को उपयुक्त भाषा, संरचना और कलात्मक रूप मिले तथा रचना जीवन की जटिलताओं को ईमानदारी से पहचाने, तभी साहित्यिक प्रभाव गहरा होता है। सामाजिक दृष्टि और रचनात्मक कौशल एक-दूसरे के विकल्प नहीं, पूरक हैं।

समाज को देखने के लिए दृष्टि का साफ रहना भी आवश्यक है। जाति, वर्ग, लिंग, क्षेत्र, आत्मीयता, निजी वैमनस्य, पद या प्रतिष्ठा के पूर्वाग्रह रचनाकार की दृष्टि की निष्पक्षता को बाधित कर सकते हैं। समदृष्टि का अर्थ सभी घटनाओं, सभी विचारों और सभी पक्षों को एक ही नैतिक स्थान देना नहीं है। अन्याय करने वाले और अन्याय सहने वाले को समान कह देना निष्पक्षता नहीं है। समदृष्टि रचनाकार को प्रिय-अप्रिय के प्रभाव से ऊपर उठकर तथ्य, परिस्थिति और मानवीय गरिमा के आधार पर जीवन को देखने का अनुशासन देती है।

मण्डलजी का कथन 'कथा नहीं, जीवन ने उन्हें पकड़ रखा है' जिसका उल्लेख मैं पुनः-पुनः कर रही हूँ। सृजन की इस प्रक्रिया को गहरा अर्थ देता है। लेखक को हमेशा कथा खोजने के लिए जीवन से बाहर नहीं जाना पड़ता। कभी कोई घटना, पीड़ा, संबंध, अन्याय या मानवीय अनुभव चेतना में इतना गहरा उतरता है कि उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति मिलने तक मन व्याकुल रहता है। यह व्याकुलता रचनात्मक बेचैनी है। वह लेखक को सतही वर्णन से संतुष्ट होने से रोकती है और अधिक उपयुक्त शब्द, संरचना तथा दृष्टि की खोज में लगाती है।

शब्द इसी कारण भाषा का केवल बाहरी रूप नहीं है। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण शब्द अपने साथ अनुभव, इतिहास, संबंध और सामाजिक स्मृति की अनेक परतें लेकर आता है। किसान, मजदूर, स्त्री, भूख, संघर्ष, प्रेम, मातृभूमि, स्वतंत्रता या न्याय लिखते समय लेखक केवल शब्द नहीं चुनता; वह उस शब्द से जुड़े जीवन-संसार को स्पर्श करता है। असावधान शब्द वास्तविक जीवन को सरल, विकृत या रूढ़ छवि में बदल सकता है। संवेदनशील शब्द-चयन साहित्यिक शिल्प के साथ सामाजिक जिम्मेदारी भी है।

रचनाकार की सामाजिक दृष्टि केंद्र और हाशिये के संबंध में और स्पष्ट होती है। साहित्यिक केंद्र केवल श्रेष्ठ रचनाओं से नहीं बनता; संस्था, प्रकाशन,

मंच, प्रचार, आर्थिक सामर्थ्य, परिचय और सत्ता-समीपता भी उसके निर्माण में भूमिका निभा सकते हैं। परिणामतः कुछ समर्थ रचनाकारों, अनुभवों और आवाजों को अभिव्यक्ति का पर्याप्त अवसर नहीं मिल पाता। साहित्य का दायित्व केवल स्थापित केंद्र की आवाज दोहराना नहीं, उस जीवन की ओर भी देखना है, जिसे पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिल सका।

किंतु हाशिये के मनुष्य को साहित्यिक विषय बना देना मात्र पर्याप्त नहीं है। उसी प्रकार उसे दया, असहायता या करुणा का निष्क्रिय पात्र बना देने से भी उसके जीवन की संपूर्णता सामने नहीं आती। किसान, मजदूर, स्त्री, दलित, गरीब और अन्य उपेक्षित समुदाय अपने श्रम, बुद्धि, अनुभव, प्रेम, असहमति और परिवर्तन की सामर्थ्य के साथ उपस्थित हों, तभी साहित्य उनकी मानवीय गरिमा को स्वीकार करता है। रचनाकार उनकी आवाज का मालिक न बने; उनके जीवन-सत्य को सुनने, समझने और जिम्मेदारी के साथ अभिव्यक्त करने का प्रयास करे।

यहीं स्वतंत्र कलम का प्रश्न उठता है। जब लेखक के निर्णय पद, पुरस्कार, मंच, गुट, सत्ता-समीपता या निजी लाभ की अपेक्षा से अत्यधिक प्रभावित होने लगते हैं, तब कठिन सत्य कहने की उसकी सामर्थ्य कमजोर पड़ सकती है। स्वतंत्रता का अर्थ सभी संबंधों से कट जाना नहीं है; उसका अर्थ यह है कि बाहरी लाभ लेखक के विवेक पर अधिकार न जमा ले। रचनाकार अपने निर्णय का मूल आधार अनुभव, अध्ययन, मानवीय दायित्व और रचनात्मक ईमानदारी को बनाए रखे।

लोभ से दूरी सम्मान का विरोध नहीं है। उचित सम्मान रचनाकार को प्रोत्साहन देता है और समाज का ध्यान महत्त्वपूर्ण रचनाओं की ओर ले जा सकता है। समस्या तब उत्पन्न होती है, जब सम्मान सृजन का परिणाम रहने के बजाय उसका मूल लक्ष्य बन जाता है। पुरस्कार एक समय की सामाजिक स्वीकृति हो सकता है; रचना का दीर्घजीवी मूल्य उसकी कलात्मक शक्ति, जीवन-सापेक्षता, पाठकीय संबंध और समय की बदलती कसौटियों से विकसित होता है।

प्रचार भी इसी अर्थ में एक साधन है, किंतु वह भी मूल्य का प्रमाण नहीं है। प्रचार रचना को दृश्य बना सकता है, पाठक तक पहुँचने का अवसर बढ़ा

सकता है, किंतु केवल दृश्यता रचना को सार्थक नहीं बनाती। रचना पाठक के अनुभव, प्रश्न और संवेदना से कैसा संबंध बनाती है, यह अधिक महत्त्वपूर्ण है। जो कृति अपने समय के दबे हुए अनुभवों को स्वर देती है, जीवन को नई दृष्टि से देखने का अवसर देती है या मनुष्य के भीतर प्रश्न उत्पन्न करती है, उसका प्रभाव तात्कालिक प्रसिद्धि की सीमा से बहुत आगे जा सकता है।

वर्तमान का कर्म भविष्य के साहित्य का आधार बनता है। साहित्य का इतिहास केवल अतीत में प्रतिष्ठित हो चुके नामों से नहीं बनता; आज लिखी जा रही, सीमित पाठकों तक पहुँची अथवा तत्काल पर्याप्त स्वीकृति न पा सकी रचनाएँ भी भविष्य की साहित्यिक स्मृति का हिस्सा बन सकती हैं। समय प्रचार की अनेक परतें हटाकर रचना को फिर परखता है। इसी कारण रचनाकार का मुख्य दायित्व तत्काल परिणाम का हिसाब रखना नहीं, अपने समय और जीवन के प्रति सजग रहते हुए सृजन करना है।

संघर्ष जब साहित्य का रूप ग्रहण करता है, तब वह केवल टकराव का अभिलेख नहीं रहता। रचना संघर्ष के कारण, पीड़ा, संबंधों की जटिलता और परिवर्तन की संभावनाओं को खोलती है। अन्याय का विरोध आवश्यक है, किंतु घृणा को अंतिम मूल्य बना देने से नए विभाजन जन्म ले सकते हैं। साहित्य प्रतिरोध को न्याय, प्रेम, भाईचारे और पुनर्निर्माण का व्यापक मानवीय संदर्भ देने की सामर्थ्य रखता है। उसका उद्देश्य मनुष्य का विनाश नहीं, अमानवीय विचारों, संबंधों और व्यवस्थाओं को चुनौती देना है।

साहित्य की यात्रा लेखक से आरंभ होकर लेखक पर समाप्त नहीं होती। पाठक उसका दूसरा आवश्यक पक्ष है। साहित्य को केवल प्रशंसक नहीं, प्रश्न करने वाला सजग पाठक भी चाहिए। पाठक रचना को प्रेम से पढ़ते हुए भी उसकी सीमाओं, अंतर्विरोधों और संभावनाओं पर विचार कर सकता है। सहमति साहित्यिक संवाद का एक रूप है; असहमति, संशोधन, पुनर्पाठ और नए प्रश्न भी उसे जीवंत रखते हैं।

पढ़ने वाले लोग यदि बोलते नहीं, तो साहित्यिक संवाद अधूरा रह जाता है। पाठकीय मौन के अनेक कारण हो सकते हैं : संकोच, मंच का अभाव, प्रतिष्ठित नामों का दबाव अथवा अपने विचार के अवमूल्यन की आशंका। खुला साहित्यिक वातावरण पाठक को प्रश्न करने, प्रतिक्रिया देने और अर्थ-निर्माण में

सहभागी बनने का अवसर देता है। पाठक का अनुभव रचना को नया संदर्भ देता है; कई बार वह ऐसे अर्थ को भी सामने लाता है, जो लेखक के मूल अभिप्राय में स्पष्ट नहीं था।

लोगों तक न पहुँचे साहित्य का सामाजिक प्रभाव स्वाभाविक रूप से सीमित रहता है। किंतु पहुँच का अर्थ केवल बिक्री, प्रचार या सामाजिक माध्यमों पर दृश्यता नहीं है। वास्तविक पहुँच तब बनती है, जब पाठक रचना को अपने अनुभव, प्रश्न या संभावनाओं से जोड़ पाता है। प्रकाशन, वितरण, पुस्तकालय, गोष्ठी, समीक्षा, अनुवाद और डिजिटल माध्यम लेखक तथा पाठक के बीच मार्ग बनाते हैं। ये मार्ग जितने खुले और निष्पक्ष होंगे, साहित्य का सामाजिक संवाद उतना ही व्यापक होगा।

साहित्यिक संस्थाओं और मंचों की जिम्मेदारी यहीं महत्त्वपूर्ण हो जाती है। मंच किसी की बपौती नहीं, सामूहिक साहित्यिक स्थान है। वहाँ रचनापाठ का न्यायपूर्ण अवसर, नई प्रतिभा का सम्मान, आलोचना की गरिमा, नियमों का समान प्रयोग और सार्वजनिक संसाधनों की पारदर्शिता आवश्यक है। जब रचना के स्थान पर निजी निकटता, गुट या प्रभाव कसौटी बनते हैं, तब साहित्यिक वातावरण की विश्वसनीयता कमजोर होती है। संस्था का मूल्य उसके नाम या आयोजनों की संख्या से नहीं, उसके न्यायपूर्ण और रचनात्मक व्यवहार से बनता है।

साहित्य के लोकतंत्रीकरण का अर्थ केवल अधिक लोगों का लिखने लगना नहीं है। इसका अर्थ है कि अलग-अलग वर्ग, क्षेत्र, लिंग, पीढ़ी और सामाजिक अनुभव के लोगों को अभिव्यक्ति, प्रकाशन, पाठ, समीक्षा और संवाद के उचित अवसर मिलें। साहित्यिक संसार यदि कुछ परिचित नामों, समूहों या केंद्रों के भीतर बंद हो जाए, तो समाज के अनेक अनुभव रचनात्मक प्रवाह से बाहर रह सकते हैं। विविध आवाजों की उपस्थिति साहित्य को केवल व्यापक नहीं बनाती, उसकी आत्मपरीक्षण की सामर्थ्य भी बढ़ाती है।

मोबाइल और डिजिटल माध्यमों ने इस दिशा में नई संभावनाएँ खोली हैं। पुस्तक, पत्रिका या गोष्ठी तक सीमित विचार अब तुरंत दूर-दूर के पाठकों तक पहुँच सकते हैं। नए रचनाकार परंपरागत प्रवेश-द्वारों की प्रतीक्षा किए बिना अपनी रचना पाठकों के सामने रख सकते हैं। यहाँ संवाद की गति और विस्तार,

दोनों बढ़ते हैं। वे आवाजें भी सामने आ सकती हैं, जो पहले मंच, प्रकाशन या भौगोलिक दूरी के कारण किनारे रह जाती थीं।

किंतु गति मात्र गहराई का प्रमाण नहीं है। डिजिटल माध्यम अधूरे पाठ, बिना जाँचे तथ्यों, क्षणिक प्रतिक्रिया, उत्तेजना और सतही प्रतिष्ठा के संकट भी लाते हैं। उँगली के एक इशारे से सामग्री दूर तक पहुँच सकती है, किंतु विचार की परिपक्वता के लिए अध्ययन, धैर्य, प्रमाण और आत्मपरीक्षण आज भी आवश्यक हैं। माध्यम आधुनिक हो जाने से विवेक अपने-आप आधुनिक नहीं हो जाता। साधन की सार्थकता उसके जिम्मेदार उपयोग से तय होती है।

इसी कारण पुस्तक से सार्वजनिक डिजिटल माध्यम तक यात्रा करते समय साहित्यिक जिम्मेदारी कम नहीं होती, कई अर्थों में और बढ़ जाती है। तथ्यों की शुद्धता, भाषा की मर्यादा, असहमत व्यक्ति का सम्मान, भूल होने पर संशोधन की तत्परता और संवाद के द्वार खुले रखना आवश्यक है। दृश्यता उपयोगी है, किंतु उसे साहित्यिक मूल्य का एकमात्र प्रमाण मानना उचित नहीं। आधुनिक संचार-माध्यमों की वास्तविक शक्ति तब प्रकट होती है, जब वे विचार की पहुँच बढ़ाते हैं, संवाद को व्यापक करते हैं और उपेक्षित आवाजों को स्थान देते हैं।

रचनात्मक जीवन में अवसर कई बार उस रचनाकार को सामान्य अनुभवों के भीतर मिलते हैं, जो सजग और निरंतर तैयार रहता है। सजग दृष्टि वहाँ प्रश्न, कथा, चरित्र और विचार की संभावना देखती है, जहाँ सामान्य दृष्टि केवल दैनिक घटना देखती है। अध्ययन, अवलोकन, समय-संयम, लेखन और पुनर्लेखन रचनाकार को अवसर की प्रतीक्षा से आगे ले जाते हैं। यही निरंतर अभ्यास अवसर का उपयोग करने की सामर्थ्य देता है।

भाषा का प्रश्न इसी रचनात्मक आत्मविश्वास से जुड़ा है। भाषा अपने-आप कमजोर नहीं होती; उसके प्रति समाज का भरोसा कमजोर हो सकता है। मैथिली में आधुनिक जीवन, विज्ञान, समाज, तकनीक, दर्शन और मानवीय जटिलताओं को व्यक्त नहीं किया जा सकता, यह भाषा की स्वाभाविक सीमा नहीं है। अभिव्यक्ति की सीमा कई बार उपयोग के संकोच, अध्ययन के अभाव या नए शब्द-संसार के निर्माण की अनिच्छा से उत्पन्न होती है। निरंतर सृजन, अनुवाद, अध्ययन और प्रयोग से भाषा अपनी सामर्थ्य विकसित करती है।

अपनी भाषा पर भरोसे का अर्थ अतीत के गौरव में अटक जाना भी नहीं

है। अतीत स्मृति, आधार और आत्मविश्वास देता है, किंतु वर्तमान की धड़कन सुनना साहित्य की उतनी ही आवश्यक जिम्मेदारी है। परंपरा को सँजोते हुए नए अनुभव, नए ज्ञान, नई तकनीक और बदलते संबंधों को अभिव्यक्ति देना भाषा और साहित्य को जीवंत रखता है। जो भाषा केवल अपना अतीत कहती है और वर्तमान जीवन को व्यक्त नहीं करती, उसका भविष्य धीरे-धीरे संकुचित हो सकता है।

सत्य का प्रश्न भी यहीं जुड़ता है। सत्य कई बार हाशिये का नहीं होता; उसकी स्वीकृति विलंबित होती है, क्योंकि वह स्थापित हितों, प्रतिष्ठा या सुविधाओं को असहज बनाता है। साहित्य का दायित्व उन अनुभवों और तथ्यों को सामने लाना है, जिन्हें दबाया, टाला या अनसुना किया गया। किंतु सत्य कहने का दावा अपने-आप में पर्याप्त नहीं है। तथ्यों की शुद्धता, संदर्भ की ईमानदारी, संवेदना और कलात्मक अनुशासन न हों, तो सत्य की प्रस्तुति भी एकांगी आरोप या अतिरंजना में बदल सकती है।

रचनाकार का व्यवहार उसके लिखे हुए मूल्यों की जीवित परीक्षा बनता है। समानता के पक्ष में लिखते हुए निजी संबंधों में भेदभाव करना, संवाद का समर्थन करते हुए असहमत आवाज को दबाना अथवा प्रेम का साहित्य रचते हुए साहित्यिक जीवन में घृणा फैलाना विचार की विश्वसनीयता को कमजोर करता है। रचना और जीवन पूर्णतः एक नहीं हो सकते, क्योंकि साहित्य कल्पना और जटिल मानवीय अनुभव का क्षेत्र भी है। किंतु दोनों के बीच लगातार उलटा संबंध बने रहना भी विचारणीय है। लेखक का जीवन उसकी रचना का प्रमाणपत्र नहीं, किंतु उसके घोषित मूल्यों का सामाजिक संदर्भ अवश्य है।

आत्मीयता, सहयोग और विचार-साम्य साहित्यिक जीवन के स्वाभाविक हिस्से हैं। समस्या तब उत्पन्न होती है, जब आत्मीयता गुटबंदी में बदलकर अपने लोगों की कमजोर रचनाओं को आगे बढ़ाती है और दूसरी समर्थ रचनाओं को किनारे करती है। ऐसा व्यवहार साहित्यिक मूल्यांकन को दूषित करता है और नए रचनाकारों का भरोसा तोड़ता है। गुटबंदी का विकल्प खुला और सम्मानपूर्ण विचार-विनिमय है। संवाद मनुष्य को अपनी सीमाएँ पहचानने, दूसरे के अनुभव को समझने और भिन्न दृष्टि को ग्रहण करने का अवसर देता है। इसी से साहित्य बंद घेरे से बाहर निकलकर व्यापक सामाजिक संवाद का हिस्सा बनता है।

सृजन की दीर्घ यात्रा नियमितता के बिना संभव नहीं है। रचना फुरसत के समय का खेल नहीं, जीवन की एक अनुशासित वृत्ति है। प्रेरणा के क्षण महत्त्वपूर्ण हैं, किंतु केवल प्रेरणा की प्रतीक्षा से लेखन का क्रम नहीं बनता। अध्ययन, अवलोकन, समय-संयम, अभ्यास, पुनर्विचार और पुनर्लेखन रचनात्मक तैयारी के हिस्से हैं। जीवन की व्यस्तता और संघर्ष के बीच सृजनशील वृत्ति को जीवित रखना रचनाकार के आत्मानुशासन की परीक्षा है।

मण्डलजी का साहित्यिक जीवन इस नियमितता का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करता है। व्यवस्थित लेखन देर से आरंभ होने पर भी निरंतर श्रम से विस्तृत रचनात्मक संसार विकसित हो सकता है, उनकी यात्रा यह दिखाती है। नियमितता का अर्थ केवल अधिक लिखना नहीं है। जीवन को देखते रहना, पढ़ते रहना, अपने लिखे पर फिर विचार करना और अनुभव को भाषा देने की तैयारी जीवित रखना भी है।

खेती और सृजन के बीच यहाँ एक अर्थपूर्ण समानता दिखाई देती है। खेत में प्रत्येक दिन एक ही काम नहीं होता, किंतु खेती का क्रम तैयारी, ऋतु, श्रम, प्रतीक्षा और पुनः तैयारी से चलता रहता है। उसी प्रकार साहित्य की धारा केवल प्रेरणा के एक क्षण से नहीं बनती। अध्ययन, अनुभव, लेखन, संशोधन और पाठकीय संवाद की निरंतर प्रक्रिया से रचना परिपक्व होती है। बीज बोते ही फसल नहीं बनती, उसी प्रकार लिखते ही प्रत्येक रचना समय की स्मृति में स्थायी स्थान नहीं पाती।

समाज से कटकर साहित्य अपना पूर्ण स्वरूप नहीं पा सकता। समय बदलता है, नई समस्याएँ, संबंध, तकनीक, संघर्ष और मानवीय आकांक्षाएँ जन्म लेती रहती हैं। रचनाकार यदि इन परिवर्तनों से संवाद तोड़ ले, तो उसका साहित्य जीवन के चलते प्रवाह से दूर हो सकता है। समाज से जुड़े रहने का अर्थ प्रत्येक घटना पर तुरंत लिखना नहीं; उसका अर्थ समय की गहरी गति, लोक के अनुभव और बदलते मूल्य-बोध को सजग दृष्टि से देखते रहना है।

साहित्य सामाजिक संवाद को गहरा करते-करते कभी व्यापक वैचारिक आंदोलन का हिस्सा बन सकता है। आंदोलन का अर्थ यहाँ नारा, भीड़ या क्षणिक उत्तेजना मात्र नहीं है। मनुष्य की दृष्टि, संवेदना, संबंध और मूल्य-बोध में दीर्घकालीन परिवर्तन भी आंदोलन का रूप है। साहित्य इस परिवर्तन को आदेश

से नहीं, प्रश्न, अनुभव, स्मृति, कल्पना और संवेदना के माध्यम से जन्म देता है।

इसी कारण साहित्य का मूल मानवीय स्वर प्रेम और भाईचारा कहा जा सकता है। किंतु यह प्रेम अन्याय के प्रति मौन स्वीकृति नहीं है। जीवन के प्रति प्रेम मनुष्य की गरिमा, श्रम, स्वतंत्रता और न्याय के पक्ष में खड़े होने का साहस देता है। अन्याय को पहचानना, उसका विरोध करना और उसके साथ अधिक मानवीय संबंधों की संभावना देखना, ये सभी प्रेम के व्यापक सामाजिक अर्थ में समाहित हैं। जीवन का संघर्ष जब सृजन बनता है, तब निजी अनुभव व्यापक मानवीय अर्थ ग्रहण करता है।

रचना की दशा और दिशा, दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। दशा उसकी भाषा, संरचना, शिल्प और कलात्मक स्तर है; दिशा उसकी मानवीय दृष्टि, सामाजिक बोध और जीवन के प्रति दायित्व। उचित दिशा कमजोर रचना-विधान की भरपाई नहीं कर सकती, उसी प्रकार कलात्मक चमक अमानवीय दृष्टि को सार्थक नहीं बना सकती। साहित्य का प्रभाव तभी गहरा होता है, जब रचनात्मक कौशल और जीवन के प्रति उत्तरदायित्व एक-दूसरे से जुड़ते हैं।

समय रचना का मूल्यांकन करेगा, किंतु साहित्यकार का काम समय के निर्णय की प्रतीक्षा करना नहीं है। उसकी जिम्मेदारी अपने वर्तमान को गहराई से समझना, अध्ययन करना, अपनी दृष्टि का पुनर्परीक्षण करना और ईमानदारी से सृजन करते रहना है। समकालीन आलोचना उसे अपनी सीमाएँ समझने का अवसर देती है, किंतु किसी रचना का दीर्घकालीन अर्थ नए पाठकों, नए समय और नए सामाजिक प्रश्नों के बीच भी विकसित होता रहता है। पुरस्कार मिले या न मिले, तत्काल स्वीकृति हो या विलंब से, रचनाकार के कर्म की प्राथमिकता सृजन ही रहती है।

पहला खंड 'समाज के भीतर मनुष्य' यह देखता है कि समाज मनुष्य को भाषा, संबंध, पहचान और मूल्य देता है, साथ ही रूढ़ि, भेदभाव और असमानता की सीमाएँ भी। आत्मपरीक्षण, विवेक और सामाजिक जिम्मेदारी के माध्यम से मनुष्य प्राप्त संसार को केवल स्वीकार नहीं करता, उसका मूल्यांकन करता है और अपने जीवन की दिशा चुनने का प्रयास करता है। दूसरा खंड 'सृजन के भीतर समाज' इस यात्रा को आगे बढ़ाता है। चेतन मनुष्य जब अपने अनुभव को शब्द देता है, तब उसकी रचना में समाज की स्मृति, संघर्ष, अंतर्विरोध और

संभावनाएँ भी प्रवेश करती हैं।

यहीं दोनों खंडों का वैचारिक संबंध पूर्ण रूप से स्पष्ट होता है। समाज मनुष्य को बनाता है, किंतु मनुष्य केवल बनता ही नहीं रहता; वह प्रश्न करता है, चुनता है और कर्म करता है। उसका अनुभव विचार बनता है, विचार सृजन का रूप पाता है, सृजन पाठक तक पहुँचता है और पाठक उसे अपने अनुभव के साथ नया अर्थ देता है। उस संवाद से समाज स्वयं को नई दृष्टि से देख पाता है। इस प्रकार जीवन साहित्य को जन्म देता है और साहित्य जीवन से जुड़कर अपने अर्थ और सार्थकता की परीक्षा देता है।

'स्वनिर्मित जीवन' का अर्थ रचनाकार के लिए स्वयं को अंतिम रूप से निर्मित मान लेना नहीं है। उसे निरंतर सीखते रहना, अपने पूर्वाग्रह पहचानना, भाषा को समृद्ध करना, लोभ और सुविधा को विवेक पर हावी होने से रोकना और समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारी का समय-समय पर पुनर्परीक्षण करते रहना पड़ता है। स्वनिर्माण एक बार प्राप्त हो जाने वाली उपलब्धि नहीं; यह जीवन भर चलने वाली आत्मपरीक्षण, अनुशासन, संवाद, संशोधन और कर्म की सतत प्रक्रिया है।

इसी कारण 'सृजन से जीवन तक' कोई अंतिम साहित्यिक सिद्धांत पाठक पर आरोपित नहीं करता। यह लेखक, पाठक और साहित्यिक समाज, सभी से अपनी भूमिका देखने का आग्रह करता है। लेखक किसके लिए लिखता है? पाठक कैसे पढ़ता है? संस्था किसे अवसर देती है? भाषा किस जीवन को व्यक्त करती है? रचना अन्याय, प्रेम, संघर्ष और संभावना को कितनी ईमानदारी से सामने लाती है? इन प्रश्नों के उत्तर स्थिर नहीं हैं; वे समय, अनुभव और सामाजिक परिवर्तन के साथ विकसित होते रहते हैं।

पुस्तक के अंतिम पृष्ठ पर सृजन की यात्रा समाप्त नहीं होती। वास्तविक परीक्षा वहाँ आरंभ होती है, जहाँ पढ़ा हुआ विचार पाठक की दृष्टि, भाषा, व्यवहार और सामाजिक भूमिका से संवाद करता है। यदि रचना किसी मनुष्य को अपने जीवन को नई दृष्टि से देखने, दबाई गई आवाज सुनने, अन्याय पर प्रश्न उठाने, अपने पूर्वाग्रह पहचानने या अधिक जिम्मेदार कर्म करने की प्रेरणा देती है, तो शब्द फिर जीवन का हिस्सा बन जाते हैं।

सृजन जीवन से जन्म लेता है, शब्दों में रूप पाता है, पाठक के भीतर नया

अर्थ ग्रहण करता है और फिर जीवन के प्रवाह का हिस्सा बन जाता है। जीवन से उसका यह पुनः जुड़ाव समापन नहीं, बल्कि अगले प्रश्न, अगले विचार और अगले सृजन का आरंभ है। समाज की साँस जब तक चलेगी, मनुष्य अपने सुख-दुःख, संघर्ष, प्रेम, स्मृति और सपनों को अभिव्यक्ति देता रहेगा। साहित्य की धारा तब तक बहेगी- प्रश्न उठाती हुई, अनुभव सँजोती हुई, संवाद जगाती हुई और जीवन को अधिक निष्पक्ष, संवेदनशील तथा मानवीय बनाने की संभावना जीवित रखती हुई।

स्रोत आ पाठ-संदर्भ

'स्वनिर्मित जीवन–2 : सृजन के भीतर समाज' का मूल वैचारिक स्रोत श्री जगदीश प्रसाद मण्डल की 'पयस्विनी' है। इस खंड के अधिकांश विचार-बिंदु 'पयस्विनी' में संकलित आलेखों, निबंधों, वक्तव्यों, प्रश्नोत्तर और परिसंवादों से चुने गए कथनों के आधार पर विकसित हुए हैं। कुछ विचार-बिंदुओं और जीवन-संदर्भों को स्पष्ट करने के लिए श्री गजेन्द्र ठाकुर द्वारा लिखित 'जगदीश प्रसाद मण्डल : एकटा बायोग्राफी' में संकलित मण्डलजी के जीवन-सूत्रों का भी सहायक स्रोत के रूप में उपयोग किया गया है। प्रत्येक मूल कथन साहित्य, सृजन और समाज से जुड़े किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न का प्रवेश-सूत्र है; उसके बाद विकसित विश्लेषण, तर्क, अर्थ-विस्तार और समकालीन संदर्भ प्रस्तुत पुस्तक का स्वतंत्र वैचारिक विमर्श है।

प्रयुक्त मूल संस्करण का विवरण : जगदीश प्रसाद मण्डल, पयस्विनी, प्रथम संस्करण, 2021; द्वितीय संस्करण, 2023; पल्लवी प्रकाशन, बेरमा/निर्मली; ISBN 978-93-93135-05-6।

अन्य प्रयुक्त स्रोत : गजेन्द्र ठाकुर, जगदीश प्रसाद मण्डल : एकटा बायोग्राफी।

प्रत्येक उद्धरण के अंत में कोष्ठक के भीतर दी गई पृष्ठ-संख्या 'पयस्विनी' के द्वितीय संस्करण, 2023 पर आधारित है। अन्य संस्करणों में पृष्ठ-संख्या भिन्न हो सकती है। मूल कथन के व्यापक प्रसंग को समझने के लिए पाठक उल्लिखित पृष्ठ के साथ उसके पहले और बाद के अनुच्छेद भी पढ़ सकते हैं। जहाँ विचार-बिंदु या जीवन-संदर्भ जीवनी पर आधारित हैं, वहाँ संबंधित स्रोत को आधार माना गया है।

उद्धरण-चिह्नों के भीतर दिए गए कथन मण्डलजी के हैं। उनके बाद प्रस्तुत विवेचन मूल कथन से प्रेरित स्वतंत्र विचार-विस्तार है। इस खंड में मुख्यतः रचनाकार की सामाजिक दृष्टि, जीवन और सृजन का संबंध, साहित्यिक

स्वतंत्रता, पाठक और संस्थाओं की भूमिका, भाषा तथा बदलते माध्यमों के प्रश्न, सृजन का अनुशासन और साहित्य के सामाजिक दायित्व पर विचार विकसित किए गए हैं। इस व्यापक संदर्भ के भीतर हाशिये की आवाज, समीक्षा, पुरस्कार, प्रचार, समय-मूल्यांकन आदि प्रसंग भी आते हैं। इसलिए प्रस्तुत विश्लेषण या निष्कर्षों को मण्डलजी का प्रत्यक्ष कथन मानना उचित नहीं होगा। मूल कथन और प्रस्तुत विमर्श परस्पर संबद्ध होते हुए भी अपने-अपने वैचारिक उत्तरदायित्व रखते हैं।

मण्डलजी के जीवन-संदर्भों का उपयोग केवल वहीं किया गया है, जहाँ उनके कथनों की व्यावहारिक पृष्ठभूमि समझना आवश्यक था। इन उल्लेखों का उद्देश्य उनके संपूर्ण जीवनवृत्त को प्रस्तुत करना नहीं, बल्कि श्रम, संघर्ष, लोकजीवन और सृजन के पारस्परिक संबंध को स्पष्ट करने के लिए सहायक आधार देना है।

उद्धरणों को मूल पुस्तक के पाठ से मिलाकर प्रस्तुत किया गया है। जहाँ मुद्रणजनित स्पष्ट टंकण-दोष, शब्दों के बीच अनावश्यक रिक्ति, विरामचिह्नों की असंगति अथवा कंप्यूटर-जनित अदृश्य संकेत थे, वहाँ पठनीयता के लिए न्यूनतम सुधार किया गया है। मूल कथन के आशय, वैचारिक स्वर और वाक्यक्रम को सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया है।

'पयस्विनी' अलग-अलग समय में लिखी गई सामग्री का संग्रह है। इसमें उल्लिखित कुछ तथ्य, रचनाओं की संख्या, साहित्यिक गतिविधियाँ और समकालीन प्रसंग अपने मूल लेखनकाल की स्थिति को व्यक्त करते हैं। इसलिए ऐसे उल्लेखों को वर्तमान समय के नवीनतम आँकड़ों के रूप में न पढ़ा जाए, बल्कि उस सामग्री का मूल्य उसके ऐतिहासिक और वैचारिक संदर्भ में समझा जाए।

जैसा मैंने स्वनिर्मित जीवन में कहा था- यह खंड 'पयस्विनी' का सारांश, परंपरागत पुस्तक-समीक्षा या मूल पुस्तक का विकल्प नहीं है। प्रत्येक विचार-बिंदु मूल कथन अथवा प्रासंगिक जीवन-संदर्भ से आरंभ होकर साहित्य, समाज और जीवन के व्यापक प्रश्नों की ओर बढ़ता है। पाठक मूल कथन, जीवन-संदर्भ और प्रस्तुत विमर्श को अपने अनुभव, विवेक और समकालीन परिस्थितियों के आधार पर पढ़ें, परखें और अपनी दृष्टि तथा नए प्रश्नों के साथ इस वैचारिक यात्रा को आगे बढ़ाएँ।

Notes